अमृत तत्त्व की उलपब्धि के हेतु समाधि -मरण

पावन प्रसंग

28 वाँधर्म दर्शन विज्ञान प्रशिक्षण शिविर
गलियाकोट पुनर्वास कॉलोनी सागवाडा

-:सौजन्य :-
1) नरेन्द्र जी खोडनिया (सागवाडा)
2) मुनि संघ सेवा समिति सकलदिगम्बर जैन समाज सागवाडा
जिला डूँगरपुर (राज.)
3) राजेन्द्र कुमार बजाज, अध्यक्ष युवा परिषद अग्रवाल समाज चौरासी,
चाकसू (जिला-जयपुर)

-: मुद्रक :-
सीमा प्रिन्टर्स, उदयपुर, फोन : 0294-3295406

-:प्रकाशक:-
धर्मदर्शन विज्ञान शोध संस्थान (बडौत)
धर्म दर्शन सेवा संस्थान (उदयपुर)
धर्म दर्शन विज्ञान शोध एवं सेवा संस्थान (उदयपुर)-शाखा-सागवाडा

लेखक :- वैज्ञानिक धर्माचार्य श्री कनकनंदी जी गुरुदेव

अमृत तत्त्व की उपलब्धि के हेतु समाधि -मरण

लेखक :- वैज्ञानिक धर्माचार्य श्री कनकनंदी जी गुरूदेव

ग्रंथाङ्क-162

प्रथम संस्करण -2007

प्रतियाँ-1000

मूल्य -41/-रुपये (पुनः प्रकाशनार्थे)

मुखपृष्ठ एवं मुद्रांकन :- *मुनि तीर्थनन्दी*

-:मुद्रक शोधन एवं लेखन सहायक:-

मुनि श्रुतनंदी जी, मुनि चिन्मयानंद जी , मुनि आध्यात्मनन्दी जी, ब्र. सोहनलाल जी देवडा, विपुल जैन, दिनेश पूजारी, मोनम जैन, नेहा जैन, उर्वि कोठारी, सौ. सुलोचना जैन, सौ. प्रेरणा शाह,

सागवाडा शाखा के आजीवन सदस्य एवं कार्यकर्त्ता

(1) कीर्ति कुमार जी शाह (2) डॉ. कैलाश चन्द जी सेठ
(3) विजय कुमार जी सेठ (एडवोकेट)(4) नरेन्द्र कुमार जी कोटडिया (बम्बे)
(5) पवन कुमार गोवाडिया (6) दिनेश कुमार जी खोडनिया
(7) विमल कुमार जी सेठ (पुर्नवास कालोनी सागवाडा)(8) नरेन्द्र जी खोडनिया
(9) राजेन्द्र कुमार बजाज, अध्यक्ष युवा परिषद अग्रवाल समाज चौरासी, चाकसू (जिला-जयपुर)

-: कार्यकर्त्ता :-

(1) दिलीप कुमार जी सेठ (2) फौजमल जी भरडा (3) डॉ. आशीष जी सेठ
(4) निमेश जी शाह (5) नीतेश जी कोठारी

:-प्राप्ति स्थान :-

धर्म-दर्शन सेवा संस्थान, द्वारा-छोटूलाल चितौडा,
चंद्रप्रभ दि. जैन मंदिर आयड,
आयड बस-स्टाँप के पास, उदयपुर-313001(राज.)
फोन नं:-(0294) 2413565, 5561114

"आत्महत्या और आध्यात्मिक समाधि में अन्तर है।"

सागवाडा :- आचार्य कनकनंदी ने कहा- आत्महत्या और आत्मशुद्धि में बडा अन्तर है । संक्लेश, कषाय के आवेश में आत्म हत्या की जाती है । जबकि समता, संवेग की साधाना से आत्म समाधि या शुद्धि की जाती है । इस विषय में भारतीय आर्ष ग्रंथों के परिप्रेक्ष्य में साधु-संतों के बीच चर्चा करना उचित रहेगा । जान देने और देह विसर्जन में आध्यात्मिक अन्तर है ।

आत्म स्वरूप के अनुरूप प्रवृति नहीं करना वस्तुत: आत्म हत्या है । हमारी आयु प्रति समय क्षीणतर होती जा रही है । प्रति समय हमारी सूक्ष्म मृत्यु हो रही है । किसी धर्म, समाज विशेष की यथार्थ मान्यताओं का तलस्पर्शी गहन अध्ययन किये बिना, किसी की आलोचना करना अनुचित है । दूसरों की भावनाओं के साथ खिलवाड करना है ।

गुरुदेव ने राजस्थाान हाई कोर्ट में जनहित याचिका दायर करने वाले निखील सोनी एवं याचिका की ओर से वकालत करने वाले एडवोकेट माधव मिश्रा के तर्कों के समाधान स्वरूप बोल रहे थे । आचार्य श्री ने चुनौति दी है कि याचिका कर्ता से लेकर उच्चत्तम न्यायालय समाधि (संथारा) के पक्ष -विपक्ष के बारे में चर्चा करें ।

दिगम्बर जैन परम्परा में भगवती आराधना (मरणकण्डीका), मूलाचार जैसे ग्रंथों में समाधि मरण सम्बन्धी विशद व्याख्यान किया गया है । मात्र अन्न-जल त्याग करके कोप-रोष आविष्ठ होकर अकाल में देह त्यागना निश्चित रूप में आत्म हत्या है। लेकिन अंग विज्ञान, शकुन विज्ञान एवं आयुर्विज्ञान के निर्देश में किसी अनुभवविद् कुशल मार्गदर्शक आचार्य के सानिध्य में देह के प्रति उपेक्षा (उदासिन) भाव रखते हुए आत्म अनुभुति में ध्यानस्थ, समयोग युक्त होना ही समाधि है ।

जैन समाज में अनभिज्ञता की भी कमी नहीं है । जैन दशर्न, विज्ञान, आध्यात्म, साधना पद्धति एवं जीवन मूल्यों को जन मानस तक ठीक-ठीक तरह से पहुंचाने का भागिरथी प्रयास उल्लेखनियरूप से नहीं हुआ है । यही कारण है समाज में भ्रांतियाँ बढ रही हैं ।

सती प्रथा और समाधि में महा अन्तर है । समाधि में मृत्यु की भी इच्छा नहीं होती है। जीवन और मरण प्रति सम बुद्धि रहती है जब कि सती प्रथा में प्रेमभाव, रागभाव के आवेश में अमूल्य देव दुर्लभ देह का असमय में ही अग्नि में ही होम किया जाता है । दीर्घ कालीन इस प्रथा का भी लगभग वर्तमान में अंत हुआ । जो कि नारी समाज के लिए सुखद हैं। आचार्य श्री सागवाडा में वर्षायोग में ससंघ विराजमान है । इस संदर्भ में परिचर्चा में संतोष प्रद समाधान दे सकते हैं ।

जैन धर्म किसी समाज विशेष का नहीं है । याचिकाकर्ता का कर्तव्य था कि वे किसी महान् धर्माचार्य से परामर्श लेते । दुर्भाग्य है कि धर्म को कानून की कसौटी पर खरा साबित किया जा रहा है । जब कि कानून किसी ईश्वरीय शक्ति से रचित नहीं है । साधारण मनुष्य धर्म की समालोचना नहीं कर सकता। धार्मिक मूल्यों, परंपराओं को सच्चाई व अच्छाई की कसौटी पर ही परख लेना चाहिए ।

भारत में गरीब, बेरोजगार, किसान वर्ग बडी संख्या में आत्म हत्या कर रहे हैं । पशु हत्या, गौवंशा हत्या को सरकार, कानून, जनता बढावा दे रही हैं । समय की मांग है, राष्ट्र की धरोहर की रक्षा करने के लिए अपनी बुद्धि, शक्ति व समय का प्रयोग करे । आध्यात्मिक जीवन, कानून से ऊपर है । योगवशिष्ठ में समाधि को साधना की अंतिम स्थिति बताया है आत्मा को कर्म से मुक्त करने के लिए कठोर अनुष्ठान की अनिवार्यता है । देश को पराधीनता की बेडी से मुक्त करने के लिए वीर सावकर, भगतसिंह, चंद्रशेखर आजाद आदियों ने जो अपने देह की आहुति दी, क्या उन सभी को आत्म हत्यायें माना जाय ? अत: संकीर्ण कानून की आड में किसी समाज, धर्म, मान्यता विशेष को निशाना बनाना सरासर गलत है । अत: हम पुन: कहना चाहेंगे, समाधि में वैराग्य, समता, सरलता, शांति एवं मनोबल की प्रबलता रहती है । जबकि आत्म हत्या में संक्लेश, हताशा, निराशा एवं कायरता के साथ-साथ तनाव का आवेश रहता है । अत: समाधि आत्म हत्या नहीं, अपितु आत्म शुद्धि की एक व्ययक्तिक प्रक्रिया है, व्यसन और विलासिता आत्महत्या की धीमी प्रक्रिया है । (**उपाध्याध विद्यानन्दी-संघस्थ-आ. कनकनन्दी)**

संदर्भ:-संथारा (सल्लेखना, समाधि) के विरूद्ध में लोकहित याचिक दायर है उसके प्रतिकार हेतु-

श्रीमान् / श्रीमति.....

मेरा मंगलमय धर्मरक्षार्थे शुभाशिर्वाद।

जैन धर्म के संथारे (सल्लेखना, समाधि मरण) को आत्महत्या, सतीप्रथा के समकक्ष मानकर दिलिप सोनी ने एक जनहित याचिका राजस्थान हाइकोर्ट में दायरा किया है, निखिल सोनी की ओर से वकालत करने वाले एडवोकेट माधव मिश्रा है।

जैन धर्म जैसे वस्तु स्वरूप, अनेकान्तात्मक, उदारवादी, सहिष्णु, अहिंसा प्रधान, सर्वजीव हितकारी, सर्वजीव सुखकारी, वैश्विक, वैज्ञानिक धर्म के ऊपर ऐसा अनैतिक-अवैधानिक, पक्षपात पूर्ण अज्ञान से युक्त, आक्षेपात्मक प्रहार वस्तुत: उपर्युक्त गुणों के ऊपर ही प्रहार है। अत: सत्य, अहिंसा, उदारता, आध्यात्मिक-आत्मसाधन स्वरूप जैन धर्म की/सत्य धर्म की रक्षा के लिए मेरा सकल जैन समाज (दिगम्बर, श्वेताम्बर जैन) तथा सत्य ग्राही उदारमना विश्व मानव को आह्वान है कि आप सब स्व-स्व शक्ति-भक्ति के अनुसार सत्य, न्याय के पथ पर चलते हुए इसका निरसन करे एवं संगठित होकर भी व्यापक रूप से प्रतिरोध एवं परिशोधन करे। हम भी ससंघ इसका यथायोग्य निरसन, प्रतिरोध, परिशोधन-प्रवचन, लेखन, साहित्य आदि के माध्यम से कर रहे हैं । हमें भी आप लोग यथायोग्य सम्पूर्ण सहयोग, स्वेच्छा से, सहृदय से, मन-वचन-काय, समय, श्रम, साधन से करे। जिसके माध्यम से हम जैन धर्म की रक्षा के साथ-साथ आध्यात्मिक संस्कृति की रक्षा कर सके। इसके साथ-साथ इसके माध्यम से जैन एकता के लिए भी भूमिका बनेगी एवं जैन एकता का प्रायोगिक रूप राष्ट्र एवं विश्व स्तर पर होगा जो कि वर्तमान जैन धर्म की, राष्ट्र की, विश्व की आवश्यकता है।

सूचना को प्राप्त करते ही आप लोगों की सकारात्मक प्रतिक्रिया एवं सहयोगात्मक पुरुषार्थ की भावना सहित।

आचार्य कनक नन्दी

:-विषय सूची :-

प्रकरण-1 समाधि-मरण (संथारा) परम-अहिंसा है न कि आत्म हत्या-सती प्रथा सम निकृष्ट हिंसा। हिंसा का विश्वरूप,आत्मघाती दूसरों के प्राणघातके बिना भी हिंसक, अहिंसा के लिए सल्लेचना, 07

प्रकरण-2 समाधि के योग्य परिस्थिति। समाधि के अतिचार, सल्लेखना के योग्य, 12 साल समाधि काल, वैदिक (हिन्दू)धर्मानुसार समाधि, समाधि के विघ्न और निवारण-उपाय, मनुस्मृति में वर्णित सन्यास एवं समाधि-मरण 17

प्रकरण-3 मरण के 17 भेद 28

प्रकरण-4 समाधि सम्बन्धी परीक्षा। समाधि सम्बन्धि संघ से विचार विमर्श, समाधि ग्रहण के योग्य काल- हेमन्त ऋतु, अविचार समाधि, निरूद्ध समाधि की विधि, प्रायोगपगमन समाधि मरण, 41

प्रकरण-5 अन्तरंग सल्लेखना 51

प्रकरण-6 समाधि के लिए योग्य वसतिका 54

प्रकरण-7 निर्यापकाचार्य द्वारा क्षपक की सेवा 57

प्रकरण-8 क्षपक का सारण (पेय)। क्षपक की चिकित्सा: शारीरिक एवं आध्यात्मिक, अयोग्य के साथ भी अयोग्य व्यवहार अनुचित 61

प्रकरण-9 निर्यापकत्व के गुण (हितोपदेशी के हानि-लाभ प्रदर्शित गुण) हितोपदेशी के मधुर/स्नेहील गुण, हितोपदेशी के कटुक/ कठोर गुण, हितोपदेशी के दूसरों के दोष न कहने का गुण 69

प्रकरण-10 विविध समाधि मरण के फल 82

प्रकरण-11 क्षपक के अन्तिम संस्कार 86

प्रकरण-12 गीता में वर्णित आत्मा की अमरता तथा समाधि, आदि शंकराचार्य की दृष्टि से आत्म की अमरता तथा समाधि 97

आचार्य कनकनन्दी जी के विविध शोध-पूर्ण ग्रन्थ 108

प्रकरण-1

समाधि-मरण (संथारा) परम-अहिंसा है न कि आत्महत्या-सतीप्रथा सम निकृष्ट हिंसा

जो कुछ बाहर से देखाई देता है यथार्थ उससे भिन्न भी होता है। जैसा कि आकाश का नीला दिखाई देना, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि का आकार छोटा दिखाई देना आदि यथार्थ नहीं है। कृषि के समय कृषक द्वारा जीवों का मरण तथा मछुआरा द्वारा जीवों का मारा जाना, राष्ट्र की रक्षा के लिए सैनिक द्वारा आक्रान्ताओं का मारा जाना तथा आतंकवादी, डाकू, लूटेरे द्वारा निर्दोष व्यक्तिओं का मारा जाना, न्यायाधीश द्वारा दोषी को न्यायोचित दण्ड देना, माता-पिता-गुरुजन द्वारा दोष सुधार के लिए सन्तान एवं शिष्यों को प्रायश्चित्त देना, प्रताडित करना तथा सज्जनों के साथ दुर्व्यवहार करना समान नहीं है। वेश्यागमन, परस्त्री आलिंगन तथा माता-पिता का वात्सल्यमय दुलार, सहलाना एक समान नहीं है। उपर्युक्त उदाहरणों में बाह्य क्रिया में कुछ समानता होने पर भी भाव, उद्देश्य, परिणाम में महान् अन्तर है या पूर्ण विपरीत है। इसी प्रकार आत्म हत्या, सतीप्रथा, पशु-पक्षी-मनुष्य की हत्या या धर्म के नाम पर बलि चढाना तथा समाधि-मरण (सल्लेखना, संथारा) में भी जान लेना चाहिए। अन्तर को जान ने के लिए हिंसा एवं अहिंसा का व्यापक, सूक्ष्म यथार्थ परक स्वरूप जानना प्राथमिक विधेय है। यथा-

हिंसा का विश्वस्वरूप

आत्म-परिणाम हिंसन हेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृत-वचनादि-केवलमुदाहृतं शिष्य-बोधाय।।42

जिससे आत्मपरिणामों का हिंसन/हनन होता है वह सब हिंसा ही है। असत्य आदि पापों का कथन प्राथमिक कम बुद्धि वाले शिष्यों को समझाने के लिए उदाहरण के रूप में बताया गया है। प्रमाद से युक्त कषाय से संयुक्त जीव के परिणाम ही हिंसा के लिये कारण होते हैं। असत्य आदि पाप हिंसा की ही अवस्थान्तर है। तथापि शिष्यों को समझाने के लिये असत्य आदि पापों का भी कथन किया जाता है। पन्द्रह प्रकार प्रमादों से आत्मा के परिणाम कलषित होते हैं, मलिन होते हैं इसलिये यह प्रमाद ही हिंसा है।

यत्खलुकषाय-योगात् प्राणानां द्रव्य भावरूपाणां।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चित भवति सा हिंसा।।43

निश्चय से कषाय के योग से द्रव्य भाव रूप प्राणों का हनन होना हिंसा है। निश्चय से कषाय के योग से अर्थात् क्रोध, मान आदि चार कषाय, हास्यादि नोकषाय

के योग से इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास, शरीर आदि द्रव्य प्राण तथा ज्ञान आदि भाव प्राणों का हनन करना या उन्हें पीडा देना हिंसा है। इन द्रव्य एवं भाव प्राणों का प्रमत्त योग से व्यपरोपण करना, विनाश करना, वियोजन करना निश्चय से हिंसा है।

पाँच इन्द्रिय प्राण,मन, वचन,काय, रूपी तीन बल प्राण, श्वासोच्छ्वास एवं आयु मिलाकर के दस प्राण होते हैं। यथा योग्य **दसों प्राण का वियोग करना या उन्हें क्षति पहुँचाना हिंसा है।** यहाँ पर परिणाम को प्राधान्यता दी गई है।

अहिंसा और हिंसा का भावात्मक लक्षण

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पतिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ।।44।।

राग-द्वेष आदि दूषित परिणाम का आत्मा में उत्पन्न नहीं होना निश्चय से अहिंसा है। इसी ही राग-द्वेष आदि दूषित परिणामों का उत्पन्न होना जिनागम में संक्षिप्त से हिंसा कहा है। जिनागम का संक्षेप या सार यह है कि अप्रयत्न रूप से आचरण करना हिंसा है एवं प्रयत्न पूर्वक (विवेक एवं पवित्र भाव)आचरण करना अहिंसा है।

प्राणघात से ही यत्नाचारी हिंसक नहीं

युक्ताचरणस्य सतो रागोद्यावेशमंतेरणापि।
न हि भवतिजातु हिंसा, प्राणव्यपरोपणादेव ।।45

जो प्रयत्न आचरण से युक्त है तथा रागादि आवेश से रहित है उससे हिंसा नहीं होती है। युक्त आचरण से सहित मुनीश्वरों के रागादि भावों के आवेश के बिना कदाचित् प्राण व्यपरोपण होने पर भी हिंसा नहीं होती है।

अयत्नाचारी प्राधघात के बिना भी हिंसक

व्युत्थानावस्थायां, रागादिनां वश प्रवृत्तानाम्।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा।।46

राग आदि परिणाम से वशीभूत जीव प्रमाद अवस्था में रहते हुए दूसरे जीव मरे या नहीं मरे अवश्य हिंसक होता है। आचार्य श्री ने इस प्रकरण में कहा कि राग आदि परिणाम से वशीभूत जीवों के तथा प्रमाद से सहित जीवों के आगे-आगे हिंसा दौडती रहती है। इसका रहस्य यह है कि वह अवश्यमेव हिंसक होता है अर्थात् त्रस-स्थावर जीवों के प्राणों का हनन करने वाले या नहीं करने वाले भी प्रमादी जीव अवश्य ही हिंसक होते हैं।

आत्मघाती दूसरों के प्राणघात के बिना भी हिंसक

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा-प्रथममात्मनाऽऽत्मानम्।
पश्चाज्जायेते न वा हिंसा प्राण्यंतराणां तु।।47

कषाय से युक्त जीव सर्वप्रथम स्व आत्म स्वरूप की हिंसा करता है। पश्चात् अन्यजीवों की हिंसा हो या नहीं हो सकषाय जीव कषाय के वशीभूत होकर बहिरात्मा होकर अन्तरात्मा का हनन करता है। आत्मवध होने के पश्चात् अन्य जीवों का बध हो भी सकता है नहीं भी हो सकता है।

प्रमाद योग में नियम से हिंसा होती

हिंसायामविरमणं हिसापरिणमनमपि भवति हिंसा।
तस्मात् प्रमत्तयोगे प्राण-व्यपरोपणं नित्यम् ।।48

हिंसा से प्रतिज्ञापूर्वक विरक्त नहीं होना भी हिंसा ही है। जीव बध से अविरमण हिंसा होती है। हिंसा का परिणाम भी हिंसा ही है। मानसिक हिंसात्मक परिणाम ही हिंसा है। इसलिए प्रमत्त योग से प्राण व्यपरोपण (भाव हिंसा) अवश्य होता है।

विकहा तहा कसाया इंदियणिद्दा तहेव पणया य ।
चदु चदु पणमेगेगं होंति पमादा हु पण्ण रसा।। (गो. सार)

चार प्रकार के विकथा,(स्त्री कथा, चोर कथा, भोजन कथा, राजनीति कथा) चार प्रकार के कषाय,(क्रोध, मान, माया, लोभ) पाँच प्रकार की इन्द्रियाँ,(स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण विषय की आसक्ति)एक निद्रा तथा एक प्रणय (भोगासक्ति)रूप से प्रमाद पंद्रह प्रकार के हैं।

हिंसा के निमित्तों को हटाना चाहिये

सूक्ष्माऽपि न खलु हिंसा परवस्तु-निबंधना भवति पुंसः।
हिंसाऽऽयतन-निवृत्तिः परिणाम-विशुद्धये तदपि कार्या ।।49

पर वस्तु के सम्बन्ध से मनुष्य को सूक्ष्म भी हिंसा नहीं लगती है। निश्चय से पर पदार्थ के कारण सूक्ष्म जीव बध का पाप भी जीव को नहीं लगता है। हिंसा आत्म परिणाम से जनित होती है इसलिये हिंसा आत्मनिष्ठ है। इसलिये आत्म परिणाम की विशुद्धि के लिये हिंसा के आयतन स्वरूप छुरी अस्त्र-शस्त्र, सूक्ष्म जीवों से युक्त स्थान का भी त्याग करना चाहिये। अस्त्रादि धारण करने से आत्मस्वभाव में मलीनता आती है। अतः शस्त्रों के समूह को त्याग करके यत्नपूर्वक विचरण करने से आत्म परिणाम में निर्मलता आती है।

अनिश्चयज्ञ का निश्चय के आश्रय से चारित्र घाती

निश्चयमुबुद्ध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
नाशयति करण चरणं स बहिः करणालसो बालः ।।50

जो निश्चय को नहीं जानकर निश्चय से उसका ही आश्रय लेता है ऐसा मूर्ख निश्चय से क्रिया रूप चारित्र को अर्थात् व्यवहार चारित्र का नाश कर देता है। आचार्य

श्री ने उसे मूर्ख, आलसी कहा है जो निश्चय व्यवहारात्मक मोक्षमार्ग को नहीं जानकर बाह्य चारित्र का पालन करने में प्रमादी होकर एकान्तत: निश्चय का ही आश्रय लेता है, मानना है। ऐसा व्यक्ति श्रावक चारित्र एवं मुनि रूपी व्यवहार चारित्र का नाश करता है, लोप कराता है।

अहिंसा के लिये सल्लेखना

इयमेकैव समर्था धर्मत्वं मया समं नेतुम्।
सततमिति भावनीया, पश्चिम-सल्लेखना भक्त्या ।।175

मैं अपने धर्म तत्व को अपने साथ एकीकरण करके पर भव में ले जाने के लिये यह सल्लेखना ही निरन्तर समर्थ है। इस प्रकार विचार करके भक्ति से निष्कपट रूप से जीवन के अन्तिम समय में सल्लेखना की भावना भानी चाहिये। मरण के समय में शरीर एवं कषाय को क्षीण करना सल्लेखना है।

सल्लेखना का पालन

मरणांतेऽवश्वयमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि।
इति भावनया परिणतो, नागतमपि पालयेदिदं शीलम् ।।176

स्वकीय-परिणाम से पूर्व जन्म में से उपार्जित आयु, इन्द्रिय बल का विनाश कुछ कारण से होता है उसको मरण कहते हैं। मरण को ही यहाँ पर अंत कहा गया है। उस मरण के समय में शरीर, कषाय को क्षीण करना सल्लेखना कहते हैं। शरीर को क्षीण करना बाह्य सल्लेखना है। कषाय को क्षीण करना अभ्यन्तर सल्लेखना है। मरण के अंत में अर्थात् तद्भव मरण मैं शास्त्रोक्त विधि विधान से निष्कपट रूप से सल्लेखना निश्चय से करूँगा। इसी प्रकार पूर्वोक्त प्रकार से भावना से सहित पुरूष को भी आगामी काल संबंधी भी इस शील का पालन होता है। जो ऐसी भावना भाता है उसकी सल्लेखना होती है।

सल्लेखना आत्महत्या क्यों नहीं ?

मरणेऽवश्वं भाविनि, कषाय सल्लेखना तनूकरण मात्रे।
रागादिमंतरेण, व्याप्रियमाणस्य नाऽऽत्मघातोऽस्ति ।।177

प्रश्न- स्वमेव सल्लेखना करके प्राण त्याग करने से स्वकीय आत्मबन्ध होगा जो हिंसा है ?

उत्तर- उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर आचार्य देते हैं कि अवश्यंभावी मरण में राग, द्वेष, मद, मोहादि के बिना की गई सल्लेखना से पुरुष का आत्मघात नहीं है क्योंकि सल्लेखना में कषाय को क्षीण किया जाता है और जहाँ कषाय आवेश नहीं है वहाँ आत्महत्या नहीं होती है। तत्वार्थ सूत्र में कहा है कि प्रमत्त योग से प्राण का व्यपरोपण

करना हिंसा है। जो पुरुष शुद्ध अन्त: करण से सल्लेखना करता है उसका प्रमाद का योग नहीं होता है। सल्लेखना युक्त पुरुष राग, द्वेष, काम, मोह, क्रोधादि में प्रवर्तन नहीं करता है। इसलिए उसका आत्म वध नहीं है। रागादि सहित का अशुभ भाव में प्रवर्तन करने वालों का ही आत्मघात होता है अन्य के नहीं। इसलिए सल्लेखना की भावना करनी चाहिए।

आत्मघाती कौन ?

या हि कषायऽऽविष्ट:, कुभक-जल-धूमकेतु-विष-शस्त्रै:।
व्यपरोपयति प्राणान्, न तस्य स्यार्त्सयमात्मवध: ।।178

रागादि सद्भाव से अशुभ भाव से प्राण विमोचन करने पर सल्लेखना नहीं होती है, इस प्रकार दिग्दर्शन करते हैं।

निश्चय से कषाय से आविष्ट पुरुष कुम्भक, श्वास निरोध, जल, अग्नि, विष, शस्त्र आदि के द्वारा प्राणों को, इन्द्रियों को नाश करता है उस पुरुष के लिए आत्मवध होता है। राग-द्वेष, मोहादि से युक्त पुरुष श्वास रोध से, विषभक्षण से, कूप पतन से, अग्नि प्रवेश से, पर्वत से गिरकर, शस्त्रादि के प्रयोग से आत्म का हनन करता है वह पुरुष आत्मघात पातक को प्राप्त होता है। उसकी सल्लेखना नहीं होती है।

सल्लेखना अहिंसा भाव

नीयन्तेऽत्र कषाया: हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम्।
सल्लेखनामपि तत: प्रादुरहिंसा प्रसिद्ध्यर्थम् ।।179

जिसके कारण से इस सल्लेखना में मुनिश्वरों के द्वारा हिंसा के कारणभूत क्रोधादि कषायों को मन्द किया जाता है इसीलिये सल्लेखना को मुनियों ने अहिंसा की प्रसिद्धि के लिए कहा है। सल्लेखना भी दया के लिए कारण है। वसुनन्दी आचार्य ने कहा भी है-

आगम में रागादि की अनुत्पत्ति को अहिंसा कहा है और उसकी उत्पत्ति को ही जिनेन्द्र भगवान ने हिंसा कहा है। सल्लेखना में प्रवर्तमान पुरुष अवश्य ही मरण आगत होने पर निज आत्म गुण की विराधना नहीं करता हुआ धीरे-धीरे देह को त्याग करता है, जिस प्रकार आत्मगुणों का विनाश नहीं हो तथा कषाय का विनाश हो उसी प्रकार प्रयत्न करता है। किस प्रकार जो स्वकीय आत्मघात करता है उसकी सल्लेखना हो सकती है ? जो सल्लेखना करता है उसका आत्मघातरूपी पातक नहीं होता है।

व्रतधारी को स्वयं मोक्ष मिलता

इति यो व्रत-रक्षार्थं सतत पालयति सकल-शीलानि।
वरयति पतिं वरेण स्वयमेव तमुत्सका शिव-पदश्री ।।180

इस प्रकार जो पुरुष सतत अहिंसादि व्रत की रक्षा के लिये समस्त सप्तशील को पालन करता है तथा सल्लेखना को करता है वह शिव पदवीश्री को वरण करता है। जिस प्रकार पति इच्छुक कन्या स्वेच्छा से पति को वरण करती है उसी प्रकार शिव श्री/ मोक्ष लक्ष्मी उत्कंठित होकर स्वयमेव व्रत पालक पुरुषों का आदर से वरण करती है।

उपर्युक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि समाधि-मरण परम अहिंसा है; क्योंकि अवश्यंभावी मरण (जिससे मरण को किसी भी प्रकार से रोका नहीं जा सकता है, टाला नहीं जा सकता है) काल में स्व-पर को किसी भी प्रकार के कष्ट दिये बिना समता पूर्वक मरण को वीरता से वरण किया जाता है। प्राण घातक रोग आदि के अचानक आक्रमण आदि के कारण तो तत्काल (कुछ समयावधि में) समाधि ग्रहण का विधान है अन्यथा क्रमिक रूप से समाधि की साधना 12 वर्षों में की जाती है। समाधि मरण को सल्लेखना (सम्यक्+लेखन) भी कहा जाता है क्योंकि सम्यक् रूप से कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ आदि) तथा शरीर को कृश (क्षीण) किया जाता है। मुख्यत: कषाय के क्षीण के साथ-साथ स्वयमेव शरीर भी क्षीण होता है। अतिवृद्ध, अतिरोग की अवस्था में शरीर क्षीण/दुर्बल होने के कारण चलना-फिरना, उठना-बैठना आदि करने में पीडा होती है, रोग बढ जाता है। इसलिए एक योग्य स्थान में एक संथारा (शयन के योग्य चटाई आदि) में समाधि साधक अध्यात्मिक साधना करते हैं। अतिवृद्ध, अतिरोगी अवस्था में गरिष्ठ- अति भोजन करने से अपच आदि के कारण रोग में वृद्धि की संभावना रहती है। इसलिए सुपाच्य-अल्पाहार का विधान है। इस बाह्य (गौण) कारण के साथ-साथ अन्तरंग कारण इन सब का यह है कि स्व-पर को, सूक्ष्म से स्थूल जीवों को बाधा नहीं पहुँचे, भाव में निर्मलता आवे, मरण में पीडा न हो। आवश्यकतानुसार नियम की मर्यादा में मरण के अन्तिम दिन तक औषधि-पानी आदि के भी प्रयोग का विधान है। जैन धर्म में अहिंसा, सत्य, अनेकान्त, उदारता, कर्म सिद्धान्त के साथ-साथ 1)आहार दान 2) औषधि दान 3) वसतिका (निवास गृह, धर्मशाला)दान 4) अभय दान (दूसरों की रक्षा) और 5) दया दत्ती (करुणा से रोगी, गरीब आदि की सहायता) का जब विधान है तथा आत्मा के मलीन भाव को ही महान् आत्म हत्या माना गया तब कैसे कोई प्रवृद्ध/ जागरुक वरिष्ठ नागरिक से लेकर साधु-संत तक आत्म हत्या कर सकते हैं? भावात्मक आत्महत्या को जब जैन धर्म में महान् हिंसा/पाप मान कर उससे दूर रहने का विधान है, तब स्वआत्महत्या के साथ-साथ स्व-शरीर हत्या एक सच्चा जैन कैसे कर सकता है? जब संविधान के अनुसार 18 (21) वर्ष का व्यक्ति स्व-विवेक से अपना धर्म, कर्त्तव्य का चयन कर सकता है, तब क्या एक वरिष्ठ व्यक्ति (वृद्ध-विवेकी-धर्मात्मा, अहिंसक) पारिवारिक, आर्थिक, सामाजिक आदि समस्याओं के बिना

स्व-विवेक के रहते हुए स्वेच्छा से आध्यात्मिक उन्नति के लिए मरण को वरण करता है तो क्या वह आत्महत्या के लिए करता है ? स्व-पर सम्पूर्ण जीवों से तीन काल सम्बन्धी क्षमा प्रदान एवं क्षमा याचना पूर्वक मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमत से सम्पूर्ण हिंसा से निवृत्ति होने के लिए समाधि को स्वीकार किया जाता है तो समाधि आत्महत्या या सती प्रथा के समान अपराध या सामाजिक बुराई अथवा कानूनी अपराध/ असंविधानैक कैसे हो सकता है ? भारतीय संविधान के अनुसार प्रत्येक नागरिक को धर्म और उपासना की स्वतंत्रता का अधिकार है। यथा-

WE, THE PEOPLE OF INDIA, having solemnly resolved to constitute India into a (SOVEREIGN SOCIALIST SECULAR DEMOCRATIC REPUBLIC and to secure to all its citizens ;

हम भारत के लोग, भारत को एक (सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न समाजवादी पंथ निरपेक्ष, लोकतंत्रात्म गणराज्य) बनाने के लिए, तथा उसके समस्त नागरिकों को :-

JUSTICE, Social, economic and political, LIBERTY of thought, expression, belief, faith and worship, EQUALITY of status and of oppartunity, and to promote among them all FRATERNITY assuring the dignity of the individual and the [unity and integrity of the Nation];

सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त करने के लिए, तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और [राष्ट्र की एकता और अखण्डता] सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढाने के लिए

IN OUR CONSTITUENT ASSEMBLY this twentysixth day of November, 1949, do HEREBY ADOPT, ENACT AND GIVE TO OURSELVES THIS CONSTITUTION.

दृढ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 26 नवम्बर, 1949 ई० (मिति मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी संवत् दो हजार छह विक्रमी) को एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।

समाधि मरण एवं आत्महत्या में और भी अनेक अन्तर निम्न प्रकार से हैं। समाधि एक धार्मिक एवं आध्यात्मिक प्रक्रिया है, जबकि आत्म हत्या एक भौतिक/ शरीरिक क्रिया है। समाधि सम्पूर्ण रूप से स्वैच्छिक है तो आत्म हत्या के पीच्छे कोई न कोई विवशता या बाध्यता होती है। समाधि का प्रमुख लक्ष्य आत्म-कल्याण, मोक्ष प्राप्ति होता है तो आत्महत्या का मुख्य कारण तात्कालीन कष्टों से पीच्छा छुडाना या दु:खों से पलायनवादी होना है। समाधि में अवश्यंभावी मरण के समय में भोजन-पानी का त्याग शक्ति के अनुसार स्वैच्छिक होता है तो आत्महत्या किसी भी विष, अस्त्र,

शस्त्र, अग्नि, पानी, श्वासरोध, फांसी, यान-वाहन, उच्च स्थान से गिरना आदि से की जा सकती है। समाधि में मृत्यु एकदम नहीं होती है। इसकी प्रक्रिया 12 वर्ष तक शनै: शनै: होती है। यम समाधि को त्यागकर सामान्य जीवन भी जीया जाता है जब मरण के कारण रूप रोग, विपत्ति, हिंस्रपशु आक्रमण, विषाक्त जीवों के द्वारा दंश, दूसरों के द्वारा विष पान आदि कारक दूर हो जाते हैं परन्तु आत्महत्या/सतीदाह एकदम होता है। समाधि का भाव स्वयं के निर्मल परिणाम से उत्पन्न होता है जबकि आत्महत्या का भाव एक आवेग, आवेश, विवशता, उत्तेजना, संक्लेश, पीडा आदि का परिणाम होता है। समाधि जीवन के अन्त में की जाती है जब सभी भोगों, वासना, इच्छा पूर्ति के कार्य करने के पश्चात् इनसे मुक्ति पाने का भाव उत्पन्न होता है।

मेडिकल साइन्स के अनुसार भी जिनके प्राकृतिक रूप से मृत्यु का प्रोसेज प्रारम्भ हो चुकी है, जहाँ पर मृत्यु होना अवश्यंभावी है, यदि कोई व्यक्ति टार्मिनली इल है अर्थात् उसके जीवन का अन्त अवश्यंभावी है यदि ऐसे व्यक्ति की ब्रेन डेड हो चुकी हो तो उसके लाइफ सपोर्ट को हटाया जा सकता है। हॉलैंड विश्व का पहला देश है जहाँ व्यक्ति को यह कानूनी अधिकार प्राप्त है कि वह इच्छा मृत्यु प्राप्त कर सकता है। आस्ट्रेलिया आदि कुछ देश में भी ऐसा कानून है। **वैदिक धर्मानुसार श्रीराम ने भी जल समाधि ली थी। इसी प्रकार विवेकानन्द ने भी। राष्ट्रसंत विनोबा भावे तो जैन धर्म की विधि के अनुसार समाधि-मरण को वरण किया था। वैदिक धर्म ग्रन्थ मनुस्मृति में भी विस्तार से संन्यास ग्रहण एवं सन्यास मरण का जो वर्णन है उस की अधिकांश प्रक्रिया जैन समाधि-मरण प्रक्रिया से समानता रखती है। विस्तृत ज्ञान के लिए समाधि संबनधी मेरे अन्य लेख एवं साहित्य का अध्ययन करें।** विश्वकल्याण के लिए वैदिक ऋषि दधिची ने स्वेच्छा से अन्न जल त्याग करके शरीर त्याग किया था। जिनकी अस्थि से इन्द्र ने बज्र तैयार करके वृत्रासुर को मारा था। महात्मा बुद्ध ने भी अन्तिम में समाधि धारण पूर्वक परिनिर्माण प्राप्त किया था। वैदिक, बौद्ध आदि धार्मिक परम्परा में यह प्राचीन आध्यात्मिक समाधि-मरण प्रक्रिया सर्व साधारण में बहु प्रचलित नहीं होने के कारण तथा विदेश में प्राय: यह प्रथा नहीं होने के कारण वर्तमान में भारत में भी इससे सर्व साधारण जन अनभिज्ञ है। परन्तु जैन धर्म में अति प्राचीन काल से लाखों-करोडों वर्षों से यह प्रथा है और अभी भी प्रचलित है। इस दृष्टि से यह प्रक्रिया जैन स्वीय विधि (पर्सनल लॉ) है, और उनके अपने कस्टम (रुढि, परम्परा) है। आत्महत्या एक इम्पलिसव प्रक्रिया है जबकि समाधि मृत्यु- महोत्सव, वीर मरण है जिससे समाज में ज्ञान, वैराग्य, त्याग, आध्यात्मिकता, निस्पृहता, अनासक्त , आध्यात्मिक-शहीद का पाठ पढाने वाला होने से लोक-हितकारी है। अत: समाधि-

मरण सामाजिक व्यवस्था के अनुकूल है न कि विरुद्ध है। क्योंकि इससे समाज को शिक्षा मिलती है, प्ररेणा मिलती है न कि समाज में आतंक, अव्यवस्था अन्धविश्वास फैलता है। जैन धर्म में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता है कि कोई स्वस्थ्य, कम आयु वाला व्यक्ति विवशता या आवेश में आकर उपर्युक्त समाधि मरण के कारण बिना समाधि मरण किया हो। इतना ही नहीं, इसके दुष्प्रभाव से अन्य कोई धर्मावलम्बी भी कम आयु में स्वस्थ्य रहते हुए समाधि मरण किया हो ऐसा भी नहीं है। जिस प्रकार कि सिनेमा, टी.वी. कार्यक्रम के अन्धानुकरण से अनेक बच्चों से लेकर बडे तक भी हत्या, बलात्कार, चोरी, डकैती, आत्महत्या, फैशन, व्यसन करते हैं । ऐसा कुछ भी दुष्प्रभाव समाधि-मरण से न हुआ है, न हो रहा है, न होने की संभावना है। क्योंकि आध्यात्मिक **प्रक्रिया सामान्य जन के लिए दुरुह, कष्टसाध्य, अनजान, अरूचिकर, अप्रिय, अनावश्यक, व्यर्थ कार्य है। उन्हें तो सत्ता, सम्पत्ति, भोग, राग-द्वेष, मोह, ईर्ष्या, लोभ, प्रसिद्धि, लडाई, झगडा, परनिन्दा, पर-अपकार, फैशन, व्यसन, दिखावा, शोषण, भ्रष्टाचार, खाओ-पीओ-मजाकर चाहिए।** अधिकांश व्यक्ति भगत सिंह, सुभाषचन्द्र बोष, राणाप्रताप आदि के समान स्वार्थ त्यागी, बलीदानी नहीं बनना चाहते हैं परन्तु टाटा, बिरला, नट-नटी, नेता-खलनेता आदि बनना चाहते हैं। क्या जो देशभक्त, क्रान्तिकारी, त्यागवीरों ने देश हित के लिए कष्ट सहा, फाँसी पर चढे, स्वयं के ऊपर गोली चलाकर वीरगति को प्राप्त हुए उन्हें कायरों के समान जघन्य अपराध स्वरूप आत्महत्या करने वाला कहा जायेगा ?

धर्म के नाम पर, देवी-देवता, ईश्वर को प्रशन्न करने के लिए या किसी प्रकार मान्यता अथवा संकट दूर करने के लिए जो पशु-पक्षी, नर, स्वपरिजन से लेकर स्व-बलि चढाते हैं वह भी सब हिंसा है, जघन्य अपराध है, मानव जाति के लिए कलंक है, पर्यावरण को पारस्थितिकी तंत्र को क्षतिपहुँचाने बाला है। इसी प्रकार मांस, चमडा, हड्डी, शारीरिक किसी भी अवयव के लिए, औषधि, प्रसाधन सामग्री के लिए या धन कमाने के लिए जो पशु-पक्षी आदि की हत्या सामान्य व्यक्ति से लेकर सरकार कानून बनाकर करती है, करवाती है, लाइसेन्स देती है, मांस निर्यात करती है वह सब हत्या है,प्राकृतिक न्याय के अनुसार घोर अवैधानिक अपराध है तथा पर्यावरण प्रदूषक, एवं पारस्थितिकी तंत्र के लिए हानि कारक होने से वैश्विक अपराध है। इसी प्रकार गर्भपात, दहजहत्या, फिरोति के लिए अपहरण, शोषण, भ्रटाचार, अन्याय-अत्याचार, अव्यवस्था, चोरी, मिलावट, कर्तव्य चोरी, अनुशासनहीनता, फैशन-व्यसन, अस्वच्छता, उत्श्रृंखलता, शीध्र समय पर न्याय नहीं मिलना, धर्मान्धता, कट्टरता, आतंकवाद, राजनैतिक भ्रष्टाचार आदि अपराध है, समाज व राष्ट्र के लिए अहितकर

है। अत: इन सब को जन जागृति, लोकहित याचिका के द्वारा, शिक्षा, संस्कार, सदाचार, सरकार, और कानून द्वारा रोकना चाहिए, परिशोधन करना चाहिए। इन सब के लिए तो समय, साधन, ज्ञान, विवेक साहस, पुरुषार्थ नहीं लगाते हैं परन्तु अनावश्यक कार्य में इन सब का दुरूपयोग करते हैं। आओ ! हम सब मिलकर पंथ-मत-जाति, राजनीति के भेद-भाव को त्यागकर आत्म विकास से लेकर विश्व विकास के लिए समग्रता से स्वेच्छा से सतत प्रयास करें।

प्रकरण-2
समाधि के योग्य परिस्थिति

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रूजायां च नि:प्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहु: सल्लेखनामार्या: ।।1 र.श्रा.पृ.222

उपद्रव को उपर्सग कहते हैं। यह तिर्यञ्च, मनुष्य,देव और अचेतन कृत होने से चार प्रकार का होता है। जिसमें अन्न की कमी होने से भिक्षा का मिलना भी कठिन हो जाता है, उसे दुर्भिक्ष कहते हैं। वृद्धावस्था के कारण जिसमें शरीर अत्यन्त जीर्ण हो जाता है उसे जरा कहते हैं, और उपस्थित हुए रोग को रूजा कहते हैं। जब ये चारों वस्तुएँ इस रूप में उपस्थित हो कि उनका प्रतिकार ही न किया जा सके तब रत्नत्रय रूपी धर्म की आराधना के लिए शरीर छोडने को सल्लेखना कहते हैं। स्वपर के प्राणघात के लिये जो शरीरत्याग होता है वह सल्लेखना नहीं है।

स्नेहं वैरं सङ्गं परिग्रहं चापहाय शुद्धमना:।
स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनै: ।।3
आलोच्य सर्वमेन: कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम्।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निश्शेषम् ।।4

उपकारक वस्तु में जो प्रीति का संस्कार होता है उसे स्नेह कहते हैं। अनुपकारक वस्तु में द्वेष का संस्कार होता है उसे बैर कहते हैं। स्त्री, पुत्रादिक मेरे हैं और मैं इनका हूँ, इस प्रकार के 'ममेदं' भाव को सङ्ग कहते हैं। बाह्य और अन्तरङ्ग के भेद से परिग्रह दो प्रकार का होता है। सल्लेखना धारण करने के लिए उद्यत पुरूष इन सबको छोडकर निर्मलचित्त होता हुआ मधुर वचनों के द्वारा स्वजन तथा परिजन दोनों को क्षमा करे और दोनों से अपने आपको क्षमा करावे। जो पाप स्वयं किया जाता है उसे कृत कहते हैं। जो दूसरे के द्वारा कराया जाता है उसे कारित कहते हैं। और किसी दूसरे के द्वारा किए हुए पाप को जो मन से अच्छा समझा जाता है उसे अनुमत कहते हैं। इन सभी पापों की निश्छलभाव से आलोचना कर मरण पर्यन्त स्थिर रहने वाले अहिंसादि महाव्रतों को धारण करे।

शोकं भयमवसादं क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा।
सत्त्वोत्साहमुदीर्य च मन: प्रसाद्यं श्रुतैरमृतै: ।।5

इष्ट का वियोग होने पर उसके गुणों का बार-बार चिन्तन करना शोक कहलाता है। क्षुधा, तृषा आदि की पीडा के निमित्त से जो डर होता है उसे भय कहते हैं अथवा इहलोकभय, परलोकभय आदि के भेद से जो सात प्रकार का भय होता है वह भय कहलाता है। विषाद अथवा खेद को अवसाद कहते हैं। स्नेह को क्लेद कहते हैं। किसी विषय में राग-द्वेष की जो परिणति होती है उसे कालुष्य कहते हैं। अप्रसन्नता को अरति कहते हैं।

सल्लेखना के करने में जो कायरता का अभाव है उसे सत्त्वोत्साह कहते हैं। सल्लेखना को धारण करने वाला पुरुष इन शोक आदि को छोडकर शास्त्र रूपी अमृत के द्वारा मन को प्रसन्न रखे। यहाँ संसार सम्बन्धी दुखों से उत्पन्न होने वाले संताप को दूर करने के कारण शास्त्र को अमृत कहा गया है। तात्पर्य यह है कि सल्लेखना धारण करने वाला मनुष्य विकथाओं में समय न लगाकर स्वयं शास्त्र पढे अथवा दूसरे में मुख से पढवावें।

आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानम्।
स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः ॥6

सल्लेखना के समय आहारादि के छोडने का क्रम यह है कि पहले दाल, भात, रोटी आदि आहार को छोडकर दूध आदि स्निग्ध पेय पदार्थों को ग्रहण करे। पश्चात् उसे भी छोडकर खरपान-स्निग्धता रहित पेय पदार्थों का सेवन करे अर्थात् जिसमें से घी निकाला जा चुका है ऐसी छाँछ को ग्रहण करे और फिर उसे भी छोडकर मात्र गर्म पानी को ग्रहण करे।

खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या ।
पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन ॥7

पश्चात् उस गर्म जल का भी त्याग कर अपनी शक्ति उल्लंघन न करता हुआ एक-दो-तीन आदि दिनों का उपवास करे। और अन्त में व्रत-संयम-चारित्र तथा ध्यान विषयक धारणा आदि सभी कार्यों में तत्पर रहता हुआ पञ्चनमस्कार मन्त्र की आराधना में अपना मन लगावे। अन्त में बडी सावधानी से शरीर का त्याग करे।

समाधि के अतिचार (दोष)

जीवितमरणाशंसे भयमित्रस्मृतिनिदाननामानः।
सल्लेखनातिचारः पञ्च जिनेन्द्रैः समादिष्टा : ॥8

सल्लेखना धारण कर ऐसी इच्छा रखना कि मैं कुछ समय तक और जीवित रहता, तो अच्छा होता यह जीविताशंसा नाम का अतिचार है। क्षुधा, तृषा आदि की पीडा होने पर ऐसी इच्छा रखना कि मेरी मृत्यु जल्दी हो जाती तो अच्छा होता, यह मरणाशंसा नाम का अतिचार है। इहलोकभय और परलोकभय अपेक्षा भय के दो भेद हैं। मैंने सल्लेखना धारण की तो है, परन्तु मुझे क्षुधा,तृषा आदि की पीडा अधिक समय तक सहन न करना पडे, इस प्रकार का भय होना इहलोकभय कहलाता है। और इस प्रकार के दुर्धर कठिन अनुष्ठान के करने से परलोक में विशिष्ट फल होगा या नहीं, ऐसा भय रखना परलोकभय है। बाल्य आदि अवस्थाओं में जिनके साथ क्रीडा की थी, ऐसे मित्रों को बार-बार स्मरण करना मित्रस्मृति नाम का अतिचार है। और आगामी भोग आदि की आकांक्षा रखना निदान नाम का अतिचार है।

समाधि के सुफल

नि:श्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम्।
नि:पिबति पीतधर्मा सर्वैर्दु:खैरनालीढ: ।।9

सल्लेखना का फल मोक्ष तथा स्वर्गादिक का सुख प्राप्त करना है। मोक्ष को नि:श्रेयस कहते हैं और अहमिन्द्र आदि के पद को अभ्युदय कहते हैं। ये दोनों ही पद सुख के समुद्र स्वरूप है। अर्थात् नि:श्रेयस आत्मोथ अनन्त सुख का समुद्र है और अहमिन्द्र आदि का पद रोग, शोक आदि से रहित होने के कारण सांसारिक सुख का उत्कृष्ट स्थान है। नि:श्रेयस-मोक्ष, निस्तीर है अर्थात् अन्त से रहित है और अभ्युदय-अहमिन्द्र आदि का पद दुस्तर है अर्थात् सागरों पर्यन्त विशाल काल से उनका अन्त प्राप्त होता है । इन दोनों फलों को प्राप्त होने वाला क्षपक पीतधर्मा होता है अर्थात् उत्तम क्षमादि रूप अथवा चारित्र रूप धर्म का पान करने वाला होता है और शारीरिक, मानसिक तथा आगन्तुक दुखों से असंस्पृष्ट-अछूता रहता है।

जन्मजरामयमरणै: शोकैर्दु:खैर्भयैश्च परिमुक्तम्।
निर्वाणं शुद्धसुखं नि:श्रेयसमिष्यते नित्यम् ।।10

जो निर्वाण अर्थात् मोक्ष है वही नि:श्रेयस है। वह जन्म, जरा, रोग और मरण से, शोक, दु:ख और भयों से सर्वथा रहित है, शुद्ध आत्मोत्थ सुख से सहित है तथा अविनाशी है। पर्यायान्तर की उत्पत्ति को जन्म कहते हैं, बुढापे को जरा कहते हैं, रोग आमय कहलाते हैं तथा शरीरादिक का छूट जाना मरण कहलाता है। शोक, दु:ख और भय से भी रहित होता है।

सल्लेखना के योग्य

दुविहं तु भत्तपच्चक्खाणं सविचारमघ अविचारं।
सविचारमणागाढे मरणे सपरक्कमस्स हवे।।64 ।। भगवती आराधना

भक्त प्रत्याख्यान (समाधि)दो प्रकार का ही है। सविचार और अविचार। सविचार भक्त प्रत्याख्यान (समाधि)सहसा मरण के उपस्थित न होने पर पराक्रम अर्थात् साहस और बल से युक्त साधु को होता है।

वाहिव्व दुप्पसज्झा जरा य सामण्णजोग्गहाणिकरी।
उवसग्गा वा देवियमाणुसतेरिच्छया जस्स।।70

जिसके दुष्प्रसाध्यव्याधि हो, अथवा श्रामण्य (साधुता)के सम्बन्ध को हानि पहुँचाने वाली वृद्धावस्था हो अथवा देवकृत मनुष्यकृत और तिर्यञ्चकृत उपसर्ग हो तब भक्त प्रत्याख्यान करने के योग्य है।

अणुलोमा वा सत्तू चारित्तविणासया हवे जस्स।

दुब्भिक्खे वा गाढे अडवीए विप्पणट्ठो वा।। 71

अनुकूल बन्धु मित्र शत्रु हो जो चारित्र का विनाश करने वाले हो। अथवा अनुकूल बन्धु और शत्रु जिसके चारित्र का विनाश करने वाले हो। भयंकर दुर्भिक्ष हो अथवा भयंकर जंगल में भटक गया हो तो भक्त प्रत्याख्यान के योग्य होता है।

चक्खुं व दुब्बलं जस्स होज्ज सोदं व दुब्बलं जस्स।

जंघाबलपरिहीणो जो ण समत्थो विहरिदुं वा।। 72

जिसकी चक्षु दुर्बल हो अथवा जिसके श्रोत्र दुर्भल हो, जो जंघाबल से हीन हो अथवा विहार करने में समर्थ न हो।

अण्णम्मि चावि एदारिसंमि आगाढकारणे जादे।

अरिदो भत्तपइण्णाए होदि विरदो अविरदो वा।। 73

उक्त कारण के समान अन्य भी प्रबल कारण उपस्थित होने पर विरत(साधु) अथवा अविरत (गृहस्थाश्रमी)भक्तप्रत्याख्यान के योग्य होता है।

सल्लेखना के अयोग्य

उस्सरइ जस्स चिरमवि सुहेण सामण्णमणदिचारं वा।

णिज्जावया य सुलहा दुब्भिक्खभयं च जदि णत्थि।। 74

जिसका चारित्र चिरकाल भी विना किसी क्लेश के अतिचार रहित अच्छी तरह पालित हो रहा है, अथवा समाधिमरण कराने में सहायक निर्यापक (सुलहा) सुलभ हैं।(च) ओर (जदि) यदि दुर्भिक्ष का भय नहीं है।

तस्स ण कप्पदि भत्तपइण्णं अणुवट्ठिदे भये पुरदो।

सो मरणं पच्छितो होदि हु सामण्णणिव्विण्णो।। 75

आगे भय के अनुपस्थित होते हुए उसका भक्तप्रत्याख्यान योग्य नहीं है। वह यदि मरण की प्रार्थना करता है तो मुनिधर्म से विरक्त ही होता है।

अणुपुव्वेणाहारं संवट्टतो य सल्लिहइ देहं।

दिवसुगगहिएण तवेण चावि सल्लेहणं कुणई।।249

क्रम से आहार को कम करते हुए शरीर को कृश करता है। और एक-एक दिन ग्रहण किये तप से, एक दिन अनशन,एक दिन वृत्तिपरिसंख्यान इस प्रकार सल्लेखना को करता है।

विविहहिं एसणाहिं य अवग्गहेहिं विविहेहिं उग्गेहिं।

संजममविरांतो जहाबलं सल्लिहइ देहं ।।250

नाना प्रकार के रस रहित भोजन, अल्प भोजन, सूखा भोजन, आचाम्ल

भोजन आदि से और नाना प्रकार के उग्र नियमों से दोनों प्रकार के संयमों को नष्ट न करता हुआ यति अपने बल के अनुसार देह को कृश करता है।

सदि आउगे सदि बले जाओ विविधाओ भिक्खुपडिमाओ।
ताओ वि ण बाधंते जहाबलं सल्लिहंतस्स ।।251

आयु के होते हुए और बल के होते हुए अपनी शक्ति के अनुसार शरीर को कृश करने वाले यति के विविध भिक्षु प्रतिमाएँ हैं, वे भी महान् कष्ट नहीं देती। जो शक्ति के बिना करता है उसे प्रारम्भ में ही महान् क्लेश होने से योग का भंग तथा महा संक्लेश परिणाम होते हैं।

सल्लेहणा सरीरे तवोगुणविधी अणेगहा भणिदा।
आयंबिलं महेसी दु उक्कस्सयं विंति।। 252

शरीर की सल्लेखना के निमित्त अनेक प्रकार तप नामक गुण के विकल्प पूर्व गाथाओं के द्वारा कहे हैं। उनमें से महर्षि आचाम्ल को ही उत्कृष्ट कहते हैं।

छट्ठट्ठमदसमदुबालसेहिं भत्तेहिं विदियअट्टेहिं।
मिदलहुगं आहारं करेदि आयंबिलं बहुसो।।253

उत्कृष्ट दो दिन, तीन दिन, चार दिन, और पाँच दिन के उपवास के बाद अधिकतर परिमित और लघु अहार आचाम्ल को करते हैं।

12 साल समाधि काल

उक्कस्सएण भत्तपइण्णाकालो जिणेहिं णिद्दिट्ठो।
कालम्मि संपहुत्ते बारसवरिसाणि पुण्णाणि।। 254

यदि आयु का काल अधिक शेष हो तो जिन भगवान् ने उत्कृ ष्ट से भक्तप्रत्याख्यान का काल पूर्ण बारह वर्ष कहा है।

जोगेहिं विचित्तेहिं दुःखवेइ संवच्छराणि चत्तारि।
वियडी णिज्जूहित्ता चत्तारि पुणो वि सोसेदि ।।255

नाना प्रकार के कायक्लेशों के द्वारा चार वर्ष बिताता है। दूध आदि रसों को त्याग कर फिर भी चार वर्ष तक शरीर को सुखाता है।

आयंबिलणिव्वियडीहिं दोण्णि आयबिलेण एक्कं च।
अद्ध णादिविगट्ठेहिं अदो अद्धं विगट्ठेहिं ।। 256

आचाम्ल और निर्विकृति के द्वारा दो वर्ष बिताता है। आचाम्ल के द्वारा एक वर्ष बिताता है।मध्यम तप के द्वारा शेष वर्ष के छह माह और उत्कृट तप के द्वारा शेष छह मास बिताता है।

भत्तं खेत्तं कालं धादुं च पडुच्च तह तवं कुज्जा।

बादो पित्तो सिंभो व जहा खोभं ण उवयंति।। 257

आहार, क्षेत्र, काल अपनी शारीरिक प्रकृति को विचार कर इस प्रकार तप करना चाहिये जिस प्रकार वात, पित्त और कफ क्षोभ को प्राप्त न हो।

एवं सरीरसल्लेहणाविहिं बहुविहा व फासेंतो।

अज्झवसाणविसुद्धिं खणमवि खवओ ण मुंचेज्ज।। 258

उक्त क्रम से नाना प्रकार की सल्लेखना की विधि को करते हुए भी परिणामों की विशुद्धि को क्षपक एक क्षण के लिये भी न छोडे।

अज्झवसाणविसुद्धीए वज्जिदो जे तवं विगट्ठंपि।

कुव्वंति बहिल्लेस्सा ण होइ सा केवला सुद्धी।।259

परिणामों की विशुद्धि को छोडकर जो उत्कृष्ट भी तप करते हैं उनकी चित्तवृत्ति पूजा, सत्कार आदि में ही लगी होती है। उनके अशुभ कर्म के आस्रव से रहित शुद्धि नहीं होती अर्थात् दोषों से मिली हुई शुद्धि होती है।

अविगट्ठ पि तवं जो करेइ सुविसुद्धसुक्कलेस्साओ।

अज्झवसाणविसुद्धो सो पावदि केवलं सुद्धिं ।।260

जो अतिविशुद्ध शुक्ललेश्या से युक्त और विशुद्ध परिणाम वाला अनुत्कृष्ट भी तप करता है वह केवल शुद्धि को पाता है।

अज्झवसाणविसुद्धी कसायकलुसीकदस्स णत्थित्ति।

अज्झवसाणविसुद्धी कसाय सल्लेहणा भणिदा ।।261

जिसका चित्त कषाय से दूषित है उसके परिणाम विशुद्धि नहीं होती इसलिये परिणाम विशुद्धि को कषाय सल्लेखना कहा है।

पंचिदियप्पयारो मणसंखोकरणो जहिं णत्थि।

चिट्ठदि तहिं तिगुत्तो ज्झाणेण सुहप्पवत्तेण।। 634

जहाँ मन को संक्षोभ करने वाला पाँचों इद्रियों का अपने विषयों में उत्सुकतापूर्वक गमन संभव नहीं है उस वसतिका में साधु क्षपक मन, वचन, काय को गुप्त करके, सुखपूर्वक ध्यान करता हुआ निवास करता है।

वैदिक (हिन्दू)धर्मानुसार समाधि

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।।2।। पातञ्जलयोगप्रदीप पृ.146

चित्त की वृत्तियों को रोकना योग है।

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ।।५।।

वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं। क्लिष्ट अर्थात् रागद्वेषादि क्लेशों की हेतु और अक्लिष्ट अर्थात् राग-द्वेषादि क्लेशों की नाश करने वाली।

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधं ।।12।।

अभ्यास और वैराग्य से उन वृत्तियों का निरोध होता है।

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यास।।13।।

उनमें से चित्त की स्थिति के विषय में यत्न करना अभ्यास है।

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ।।14 ।।

किन्तु वह पूर्वोक्त अभ्यास दीर्घ कालपर्यन्त निरन्तर व्यवधानरहित ठीक-ठीक श्रद्धा, वीर्य, भक्तिपूर्वक अनुष्टान किया दृढ अवस्थावाला हो जाता है।

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकासरसंज्ञा वैराग्यम् ।।15।।

दृष्ट और आनुश्रविक विषयों में जिसको तृष्णा नहीं रही है, उसका वैराग्य वशीकार नाम वाला अर्थात् अपर- वैराग्य है।

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ।।19।।

विदेह और प्रकृतिलयों को जन्म से ही असम्प्रज्ञात-समाधि की प्रतीति होती है।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ।।20।।

दूसरे योगी जो विदेह और प्रकृतिलय नहीं है, उनको श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक असम्प्रज्ञात-समाधि सिद्ध होती है।

तीव्रसंवेगानामासन्नः ।।21।।

तीव्र संवेग और अधिमात्र उपाय वाले योगियों को समाधि-लाभ शीघ्रतम होता है।

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ।।23।।

अथवा ईश्वर-प्रणिधान से; शीघ्रतम समाधि-लाभ होता है।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।।24।।

क्लेश, कर्म, कर्मों के फल और वासनाओं से असम्बद्ध, अन्य पुरुषों से विशेष (विभिन्न उत्कृष्ट) चेतन ईश्वर है।

समाधि के विघ्न और निवारण-उपाय

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमि-कत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।।30।।

व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्ध-भूमिकत्व, अनवसितित्व ये चित्त के नौ विक्षेप(योग के)विघ्न हैं।

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ।।31 ।।

दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वासप्रश्वास- ये विक्षेपों के साथ होने वाले हैं अर्थात् उनके होने से ये पाँच प्रतिबन्धक भी उपस्थित हो जाते हैं ।

मैत्रीकरूणामुदितोपेक्षाणां सुखदु:खपुण्यापुण्यविषयाणां
भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।।33।।

सुखी, दु:खी, पुण्यात्मा और पापियों के विषय में यथा क्रम मित्रता, दया, हर्ष और उपेक्षा की भावना के अनुष्ठान से चित्त प्रसन्न और निर्मल होता है।

मनुस्मृति में वर्णित सन्यास एवं समाधि-मरण

आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रिय:।
भिक्षाबलिपरिश्रान्त प्रब्रधन्प्रत्य वर्धते ।।34(अध्याय 6)

एक आश्रम से दूसरे आश्रम में जाकर जितेन्द्रिय हो भिक्षा बलिवैश्वदेव और अग्निहोत्र आदि नित्य कर्म करते-करते थक जाने पर जो अन्त में संन्यास ग्रहण करके देह त्याग करता है वह परलोक में महान् कल्याण लाभ प्राप्त करता है।

यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्य: प्रब्रजत्यभयं गृहात्।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिन: ।।39

जो सब प्राणियों को अभय देकर घर से संन्यास के लिए जाता है, उस ब्रह्मवादी को तेजोमय लोक प्राप्त होते हैं।

यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम्।
तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ।।40

जिससे प्राणियों को अणुमात्र भी भय उत्पन्न नहीं होता,उस देह से मुक्त पुरुष को कहीं किसी का भी भय नहीं रहता।

अगारादभिनिष्क्रान्त: पवित्रोपचितो मुनि:।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्ष: परिब्रजेत् ।।41

घर से निकलकर दण्ड, कमण्डलु आदि पवित्र पदार्थों को साथ में ले, किसी से वृथा भाषण न करे और सुस्वादु भोज्य पदार्थों की भी कोई इच्छा न करके भ्रमण करे।

एक एव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायवान्।
सिद्धिमेकस्य संपश्यन्न जहाति न हीयते ।।42

मोक्ष की सिद्धि के लिए असहाय होकर अकेला ही नित्य भ्रमण करे वह न किसी को छोडता है और न किसी से छोडा जाता है (अर्थात् न उसे किसी को छोडने से दु:ख होता है और न किसी से छोडे जाने का ही)

अनग्निरनिकेत: स्याद्ग्राममन्नार्थमाश्रयेत्।
उपेक्षकोऽसंकुसुको मुनिभावसमाहित: ।।43

अग्नि और गृह से रहित होकर रहे। रोगादि की परवाह न करे । स्थिर बुद्धि और मौन हो विशुद्ध भाव से ब्रह्म का मनन करता हुआ भोजन के लिए गाँव में जाय।

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्।

कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा।।45

मरने की इच्छा न करे, न जीने की ही इच्छा करे। किन्तु जैसे सेवक अपने प्रभु की आज्ञा की प्रतीक्षा करता है उसी प्रकार संन्यासी काल की प्रतीक्षा करे।

दृष्टिपूतं न्सेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।

सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत्।।46

आँख से जमीन को देखकर पैर रक्खे, वस्त्र से छानकर जल पीये, सत्य वचन बोले और पवित्र मन से कार्य करे।

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमनयेत कंचन।

न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित्।।47

कोई अत्यन्त वाद-विवाद करे तो उसे सह ले, पर किसी का अपमान न करे, इस देह का आश्रय (क्षणभंगुर समझ) कर किसी के साथ शत्रुता न करे।

क्रुद्धयन्तं न प्रति क्रूद्धये दाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।

सप्तद्वारावकीर्णं च न वाचमनृतां वदेत्।।48

क्रोध में भरे हुए मनुष्य का जवाब क्रोधित होकर न दे, कोई निंदा करे तो भद्र वचन ही कहे। (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि) इन सात द्वारों से ग्रहण किये जाने वाले विषयों की चर्चा न करे (केवल ब्रह्म विषयक सत्य वचन बोले)।

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः।

आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह।।49

सदा आत्मा के ही चिन्तन में लगा रहे। विषयों की इच्छा से रहित निरामिष होकर एक देह मात्र की सहायता से मोक्ष सुख अभिलाषी होकर संसार में विचरे।

एककालं चरेद्भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे।

भैक्षे प्रसक्तो हि यतिविषयेष्वपि सज्जति।।55

एक बार भिक्षा मांगनी चाहिये। भिक्षा का विस्तार न करे। बहुत भिक्षा का आसक्त संन्यासी विषयों में भी आसक्त हो सकता है।

अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत्।

प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः।।57

भिक्षा न मिलने पर विवाद न करे और मिलने पर हर्ष भी न करे। प्राणयात्रा रक्षार्थ भिक्षान्न से जीवन निर्वाह करे, दण्ड-कमण्लु में भी आसक्ति न रखे।

अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः।

अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बद्धयते।।58

आदर के साथ भिक्षा स्वीकार करने को सब काल में बुरा समझे क्योंकि पूजित होने पर भिक्षा ग्रहण करने वाला संन्यासी मुक्त होकर भी बद्ध हो जाता है।

अल्पान्नाभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च।

ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत् ।।59

अल्पहार और एकान्त निवास इन दो उपायों से विपयों द्वारा खींची जाने वाली इन्द्रियों को वश में करे।

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।

अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ।।60

इन्द्रियों के नियन्त्रण से और राग-द्वेष के त्याग तथा प्राणियों की अहिंसा से संन्यासी मोक्ष को पाता है।

विप्रयोगं द्रियैश्चैव संयोगं च तथाऽप्रियैः।

जरया चाभिभवनं व्याधिभिश्चोपपीडनम् ।।62

प्रियों का वियोग, अप्रियों का सुयोग, बुढापे में होने वाले क्षय आदि रोगों से कष्ट (कर्म दोष के) इन परिणामों को सोचे।

संरक्षणार्थं जन्तूनां रात्रावहनि वा सदा।

शरीरस्यात्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत् ।।68

शरीर की अस्वस्थता में भी जीवों के प्राणरक्षार्थ दिन हो या रात सदा पृथ्वी को देखकर पैर रखे।

सम्यग्दर्शनसंपन्नः कर्मभिर्न निबद्ध्यते।

दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ।।74

ब्रह्म का सम्यक् दर्शन करने वाला कर्मों से बद्ध नहीं होता, किन्तु ब्रह्मदर्शन से विहीन पुरुष संसारी होकर जनम-मरण के फेर में पडता है।

अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः।

तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ।।75

साधक अहिंसा, इन्द्रिय संयम, वैदिक कर्मों के अनुष्ठान और कठिन तपश्चर्या से ब्रह्मपद को प्राप्त होते है।

अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम्।

चर्मावनद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ।।76

जराशोकसमाविष्टं रोगयितनमातुरम्।

रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् ।।77

हड्डी के खंभे वाली स्नायुओं से युक्त मांस और रुधिर से लेप की हुई चमडे से

ढकी हुई, मलमूत्र भरी और दुर्गन्धयुक्त, जरा और शोक से आक्रान्त, रोग का घर,भूख-प्यास से व्याकुल, भोगाभिलाषी और क्षणभंगुर रूपी शरीर को पञ्चभूतों का निवास स्थान है, यह जानकर त्याग ही देना चाहिये (अर्थात् जिसमें इस आत्मा को पुनर्देह सम्बन्ध न हो ऐसा यत्न करना चाहिये)।

नदीकूलं यथा वृक्षो वृक्षं वा शकुनिर्यथा।

तथा त्यजन्निजं देहं कृच्छ्राद्ग्राहाद्विमुच्यते ।।78

जैसे वृक्ष नदी के किनारे को और जैसे पक्षी वृक्ष को त्याग देता है वैसे संन्यासी इस देह को त्यागकर सांसारिक दु:खरूप ग्राह से मुक्त हो जाता है।

प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम्।

विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माभ्योति सनातनम् ।।79

ज्ञानी अपने हितैषियों में अपने पुण्य और शत्रुओ में अपना पाप छोडकर ध्यान योग से सनातन ब्रह्म में लीन हो जाता है।

यदा भावेन भवति सर्वभावेषु नि:स्पृह:।

तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाशवतम् ।।80

पारमार्थिक विचार से विषयों को दोष पूर्ण समझकर जब उनसे विरत होता है तब वह इस लोक में सन्तोष-सुख और परलोक में अविनाशी मोक्ष सुख पाता है।

अनेन विधिना सर्वास्त्यक्त्वा सङ्गाञ्छनै: शनै:।

सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ।।81

इस प्रकार (पुत्र-कलत्र आदि की) सारी आसक्तियों को धीरे-धीरे त्याग कर और (मानापमानादिक सभी द्वन्द्वों से विमुक्त होकर वह ब्रह्मा में लीन हो जाता है।

ध्यानिकं सर्वमेवैतद्यदेतदभिशब्दितम्।

न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित्क्रियाफलमुपाश्नुते ।।82

यह सब जो कहा गया है वह आत्मध्यान से ही होता है (अर्थात् ध्यान द्वारा परमात्मा में मगन होने वाले को किसी में ममता या मानापमान का दु:ख नहीं होता)। इस आध्यात्मिक विषयों को न जानने वाला ब्रह्मध्यानात्मक क्रिया का फल नहीं पाता।

अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विज:।

स विथूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति ।।85

इस क्रमयोग से जो द्विज संन्यास-आश्रम को गहण करता है, वह इस संसार में सब पापों से छूटकर परब्रह्म में मिल जाता है।

प्रकरण-3
मरण के 17 भेद

मरणाणि सत्तरस देसिदाणि तित्थंकरेहिं जिणवयणे।
तत्थ वि य पुण इह संगहेण मरणाणि वोच्छामि।।25

जिनागम में तीर्थंकरों ने मरण सतरह कहे हैं। उन सतरह प्रकार के मरणो में से भी यहाँ (संगहेण) संक्षेप से पाँच मरणों को कहूँगा।

मरण अनेक प्रकार के हैं ऐसा अन्य शास्त्रों में कहा है। उनमें से यहाँ इन मरणों को कहना है यह बतलाने के लिए यह गाथा सूत्र आया है। मरण, विगम, विनाश, विपरिणाम इन सब शब्दों का अर्थ एक है। वह मरण जीवन पूर्वक होता है। जीवन, स्थिति, अविनाश, अवस्थिति यह सब एकार्थक हैं। स्थितिपूर्वक विनाश होता है। जिसकि स्थिति नहीं है उसका विनाश नहीं है जैसे बाँझ का पुत्र नहीं होता तो उसका विनाश भी नहीं होता है। क्षणिकवादी बौद्धों ने जिस वस्तु को कहा है उस की स्थिति नहीं है अर्थात् वह वस्तु ही नहीं है। जीवन जन्म पूर्वक होता है। जो उत्पन्न नहीं हुआ उसकी स्थिति नहीं है इसलिए प्रत्येक वस्तु उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्यरूप को लिए हुए है। इस प्रक्रिया के अनुसार उत्पन्न हुई पयार्य के विनाश का नाम मरण है। देवपना, तिर्यञ्चपना, नारकपना, मनुष्यपना, इन पयार्य का विनाश यहाँ मरण शब्द से लिया है। अथवा प्राण छोडने का नाम मरण है। कहा भी है मृङ्धातु' प्राणत्याग के अर्थ में है। इसी तरह प्राण ग्रहण को जन्म कहते हैं। प्राणों का धारण करना जीवन है। प्राणों के दो भेद हैं-द्रव्यप्राण, भावप्राण। इन्द्रियाँ पाँच, तीन बल, उच्छ्वास और आयु ये पुद्गल द्रव्यप्राण हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र ये भाव प्राण हैं। इन भाव प्राणों की अपेक्षा सिद्धों में जीवन होता है। उन प्राणों में आयु प्राण के दो भेद हैं - अद्धायु और भवायु। भव धारण को भवायु कहते हैं।भव शरीर को कहते हैं। आयु कर्म के उदय से आत्मा भव धारण करता है। अत: आयु कर्म भवधारण रूप है उसे ही भवायु कहते हैं। कहा भी है- शरीर को भव कहते हैं। वह भव आयु कर्म के द्वारा धारण किया जाता है। इसलिय भव धारण में कारण आयु कर्म को भवायु कहते हैं।

इस प्रकार आयु के वश से ही जन्म लेता है और आयु के उदय से ही जीवित रहता है। पूर्व आयु का विनाश और आगे की अन्य आयु का उदय होने पर मरण होता है।

कहा है- आयु के वश से जीव जन्म लेता है। आयु के उदय में जीवित रहता है। अन्य आयु का उदय होने पर अथवा पूर्व आयु का नाश होने पर मरता है।

अद्धा शब्द से काल कहा जाता है और आयु शब्द से द्रव्य की स्थिति। अत: द्रव्य कर स्थितिकाल को अद्धायु कहते हैं। द्रव्ययोंर्थिकनय की अपेक्षा द्रव्यों की अद्धायु अनादि निधन है। और पर्यार्थिक की अपेक्षा चार प्रकार की है- अनादिअनिधन, सादिअनिधन, अनादिसान्त और सादि सान्त। चैतन्य, रूपादिमत्ता, गतिहेतुता, स्थितिहेतुता, आदि सामान्य की अपेक्षा द्रव्य की स्थिति अनादि अनिधन है। अर्थात् जीवादि द्रव्य का अपना-अपना स्वभाव सदा से ही है और सदा रहेगा अत: वे सब इस दृष्टि से अनादि अनन्त हैं। केवलज्ञान आदि की अद्धायु सादि अनिधन है क्योंकि वह प्रकट होकर नष्ट नहीं होता। भव्यत्व की अद्धायु अनादिसनिधन (सान्त) है क्योंकि भव्यत्व भाव यद्यपि अनादि होता है किन्तु मुक्ति होने पर नष्ट हो जाता है। कोप आदि सादि सनिधन है।

अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव के आश्रय से स्थिति चार प्रकार की होती है। इस अद्धायु के द्वारा भव धारण रूप आयु का कथन होता है। जिन कर्मों की आयु संज्ञा होती है वे कर्म पुद्गलद्रव्य रूप होने से आयु स्थिति द्रव्यस्थिति से अत्यन्त भिन्न नहीं है। अथवा जो आयु संज्ञावाले पुद्गल उदय में आ रहे हैं उनके गल जाने को मरण कहते हैं। वे मरण जिन वचन में तीर्थंकरों ने सतरह कहे हैं।

शंका- तीर्थंकरों ने कहे हैं इतना ही कहना पर्याप्त है, जिनवचन के कहने की क्या आवश्यकता है ?

समाधान-इसमें कोई दोष नहीं हैं। यहाँ जिन शब्द से गणधर कहे गये हैं। 'च' शब्द के बिना भी समुच्चय रूप अर्थ का ज्ञान होता है। अत: ऐसा सम्बंध लेना और जिन वचन में सतरह मरण कहे हैं। इससे यह बोध होता है कि तीर्थंकरों और गणधरों ने मरण के भेद कहे हैं। अत: उन दोनों के वचनों से सिद्ध होने से प्रमाण है उस में किसी प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिए वे हैं ।

(1) आवीचिमरण (2) तद्भवमरण (3)अवधिमरण (4) आदि अन्तमरण (5) बालमरण (6) पंडित मरण (7)आसण्णमरण (8) बालपंडितमरण (9) ससल्लमरण (10) बलायमरण (11) वसट्टमरण (12) विप्पाणसमरण (13) गिद्धपुट्ठमरण, (14) भक्तप्रत्याख्यान मरण (15) प्रायोपगमनमरण (16) इंगिनीमरण (17) केवली मरण।

1) आवीचिमरण- वीचीशब्द तरंग को कहता है। किन्तु यहाँ वीचि के समान ऐसा अर्थ करने से वीचिका अर्थ-आयुका उदय हैं। जैसे समुद्र वगैरह में तरंगें निरन्तर उठा करती हैं उसी प्रकार क्रम से आयु-नामक कर्म प्रतिसमय उदय में आता है। इसलिए उसके उदय को आवीचि शब्द से कहा है। आयु के अनुभवन को जीवन कहते हैं। वह प्रतिसमय होता हैं। उसका भंग मरण हैं। अत:जीवन की तरह मरण भी आवीची है

क्योंकि आयु का उदय प्रतिसमय होता है। अत: प्रत्येक अनन्तर समय में मरण भी होता हैं। उसी प्रति समय होने वाले मरणको आवीचिमरण कहते हैं। वह भव्य जीवों के अनादिसान्त हैं।

शंङ्का-सिद्धोंके ही मरणका अन्त होता है, दूसरों के नहीं। किन्तु सिद्ध भव्य नहीं हैं। जिनके भविष्य में सिद्धपर्याय होने वाली है उन्हें भव्य कहते हैं। सिद्ध तो सिद्धपर्याय प्राप्तकर चुके हैं तब कैसे कहते हैं कि भव्यजीवों का मरण अनादिसान्त है ?

समाधान- ऐसा कहा है कि भव्यों का आवीचिमरण अनादि और सान्त है।अत: जो द्रव्य भव्यत्वपर्यायको प्राप्त था वही यह है ऐसा मानकर भव्यों के अनादिसान्त मरण कहा है ऐसा निश्चित है। अभव्यजीवों के सामान्य अपेक्षा से आयु का उदय बराबर रहता है अत: उनका आवीचिमरण अनादिनिधन है। किन्तु भव की अपेक्षा और क्षेत्रादि की अपेक्षा सादि है। चार आयुकर्मों में से यद्यपि एक जीव के दो ही आयुकर्मों की सत्ता रहती है (एक जिसे भोगता है और दूसरी जिसे परभव के लिए बाँधा है)। तथापि उदय एक ही आयु का होता हैं। दो प्रकृतियाँ सत्ता में एकसाथ रह सकती हैं। वहीं कहते हैं- तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु सब आयुओं के साथ सत्ता में रहती है अर्थात् देवायु और नरकायु दूसरी देवायु और नरकायु के साथ सत्ता में नहीं रहती; क्योंकि देव मरकर देव या नारकी नहीं हो सकता और न नारकी मरकर **नारकी** या देव होता हैं।

शङ्का-आयुकर्मों की यह सत्कर्मव्यवस्था रहो, किन्तु दो आयु कर्मों का एकसाथ उदय क्यों नहीं होता ?

समाधान- आयुकर्म की जिस प्रकृति की स्थिति अनुभव में आ रही हैं और जिस आयु की स्थिति का उदय हो रहा हैं उसकी स्थिति जहाँ समाप्त होती है उसमें ऊपर दूसरी आयु के निषेक रहते हैं। अत: जब तक पहली आयु की स्थिति समाप्त नहीं होती तब तक दूसरी उदय में आ नहीं सकती। इसलिए एक साथ आयु की दो प्रकृतियों का उदय नहीं होता। तथा एक जीव के एक साथ दो भव या दो गति सम्भव नहीं हैं। और भव तथा गति को लेकर उसके अनुसार आयु का उदय होता हैं, अन्यथा नहीं होता, इसलिए दो भी आयु का उदय एक जीव के नहीं होता। इस प्रकार एक आयु कर्म की एक ही प्रकृति एक जीव के उदय में है अत: एक-एक आयु कर्म के गलनरूप ही मरण होता है। यह प्रकृति मरण काल भेद से एक भी जीव के चार प्रकार का होता है। वह आवीचिक मरण ही है। इस प्रकार प्रकृति आवीचिक मरण का व्याख्यान किया।

2) दूसरा स्थिति अवीचिमरण - भव धारण में कारण रूप से परिणत हुए पुद्गलों के स्नेह-वश आत्मा के प्रदेशों में ठहरने को स्थिति कहते हैं। आत्मा का कषाय परिणाम पुद्गलों की स्निग्धता का सहकारी होता है। परिणाम कारण तो स्वयं पुद्गलद्रव्य ही है। यह

स्थिति एक समय से लेकर एक-एक समय बढते-बढते कुछ तेतीस सागरों के जितने समय है उतने भेद वाली होती है। यह उत्कृष्टस्थिति है। जघन्यस्थिति अन्तर्हमुहूर्त प्रमाण होती है। तरंगों के समान क्रम से अवस्थित उस स्थिति के विनाश से आत्मा स्थिति आवीचिमरण होता है। भवान्तर प्राप्ति पूर्वक उसके अनन्तर पुर्ववर्ती भव का विनाश तद्भवतरण है वह तो इस प्रकार जीवन अनन्तवार प्राप्त किया है। अत: तद्भवमरण दुर्लभ नहीं हैं।

अनुभव आवीचिमरण कहते हैं- कर्मपुद्गलों के रस को अनुभव कहते हैं। वह अनुभव परमाणुओं में छह प्रकार की वृद्धि हानि रूप से तरंगों की तरह क्रम से अवस्थित है। उसका विनाश अनुभव अवीचिमरण है। आयु संज्ञा वाले पुद्गलों के प्रदेश जघन्य निषेक से लेकर एक आदि वृद्धि के क्रम से तरंगों की तरह अवस्थित है उनके गलने को प्रदेश आवीचिमरण कहते हैं।

3) अवधिमरण- जो वर्तमान में जैसा मरण प्राप्त करता है यदि वैसा ही मरण होगा तो उसे अवधिमरण कहते हैं। उसके दो भेद है-देशावधिमरण और सर्वावधिमरण। वर्तमान में जो आयु जैसे प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेशों को लेकर उदय में आ रही है वैसी ही प्रकृति आदि को लिए हुए यदि पुन: आयुबन्ध करता है और उसी प्रकार भविष्य में उसका उदय होता है तो उसे सर्वावधिमरण कहते हैं। और वर्तमान में जैसा आयु का उदय होता है वैसा ही यदि एक देश बन्ध करता है वह देशावधिमरण है। इसका अभिप्राय यह है एक देश से अथवा सर्व देश से मर्यादा को लिए हुए सादृष्य से विशिष्ट मरण को अवधिमरण कहते हैं।

4) आद्यन्तमरण- वर्तमान से यदि भाविमरण असमान होता है तो उसे आद्यन्तमरण कहते हैं। वहाँ से वर्तमान का प्राथमिक मरण कहा जाता है। उसका अन्त अर्थात् विनाश जिस उत्तरमरण में होता है उसे आद्यन्त मरण कहते हैं। वर्तमान में जिस प्रकार के प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेश द्वारा मरण को प्राप्त होता है यदि एकदेश या सर्वदेश से उस प्रकार को प्राप्त नहीं होता तो वह आद्यन्तमरण है।

5) बालमरण -बाल के मरण को बालमरण कहते हैं। वह बाल पाँच प्रकार का है- अव्यक्त बाल , व्यवहारबाल, ज्ञानबाल, दर्शनबाल, चारित्रबाल। अव्यक्त छोटे बच्चे को कहते हैं। जो धर्म, अर्थ और काम को नहीं जानता और न जिसका शरीर ही उनका आचरण करने में समर्थ है वह अव्यक्तबाल है । जो लोक, वेद और समय सम्बन्धी व्यवहारों को नहीं जानता अथवा इन विषयों में शिशु समान है वह व्यवहारबाल है। अर्थ और तत्व के श्रद्धान से रहित सब मिथ्या दृष्टि दर्शनबाल है। वस्तु को यथार्थ रूप से ग्रहण करने वाले ज्ञान से जो हीन हैं वे ज्ञानबाल हैं। जो चारित्रपालन किये बिना जीते है वे चारित्रबाल है। इन बालों के मरणों को बालमरण कहते हैं।अतीतकाल में ये बालमरण

अनन्त हो चुके हैं, अनन्त जीव इस मरण को प्राप्त होते हैं। यहाँ इनमें से दर्शनबाल का ग्रहण किया है, अन्य बालों का नहीं, क्योंकि सम्यग्दृष्टि में इतर बालपना रहते हुए भी दर्शन पंडितपना रहता है इसलिए उसके पंडितमरण ही स्वीकार किया है।

संक्षेप से दर्शनबाल का मरण दो प्रकार का है एक इच्छापूर्वक, दूसरा अनिच्छापूर्वक। आग से, धुएँ से, शस्त्र से, विष से, जल से, पर्वत से गिरने से, श्वास के रुकने से, अतिशीत या अतिगर्मी पडने से, रस्सी से, भूख से, प्यास से, जीभ उखाडने से, और प्रकृति विरुद्ध आहार के सेवन से बाल पुरुष मरण को प्राप्त होते हैं यह इच्छापूर्वक मरण (आत्मा-हत्या) है अर्थात् ऐसे उपाय स्वयं करके वे मरते है।

किसी निमित्त वश जीवन को त्यागने की इच्छा होने पर भी अन्तरंग में जीने की इच्छा रहते हुए काल या अकाल में अध्यवसान आदि से जो मरण होता है वह अनिच्छापूर्वक दर्शनबाल मरण है। जो दुर्गति में जाने वाले हैं, विषयों में अति आसक्त हैं, अज्ञान पटल से आच्छादित हैं, ऋद्धि, रस और सुख के लालची हैं वे इन बाल मरणों से मरण करते हैं। ये बालमरण बहुत तीव्र कर्मों के आस्रव के द्वार हैं, जन्म, जरा, मरण के दुखों को लाने वाले हैं।

6) पण्डित मरण- इसके चार भेद हैं, व्यवहार पण्डित, सम्यक्त्व पण्डित, ज्ञान पण्डित और चारित्र पण्डित । जो लोक, वेद और समय के व्यवहार में निपुण हैं वह व्यवहार पण्डित है। अथवा जो अनेक शास्त्रों का ज्ञाता है सेवा आदि बौद्धिक गुणों से युक्त है वह व्यवहारपण्डित है। क्षायिक, क्षायोपशमिक अथवा औपशमिक सम्यग्दर्शन से जो युक्त है वह दर्शनपण्डित हैं। जो मति आदि पाँच प्रकार के सम्यग्ज्ञान रूप से परिणत है वह ज्ञान पंडित है। जो सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात चारित्र में से किसी एक चारित्र का पालक है वह चारित्रपण्डित है। यहाँ ज्ञान, दर्शन और चारित्र पण्डितों का अधिकार है। व्यवहार पण्डित मिथ्यादृष्टि का तो बालमरण होता है और सम्यग्दृष्टि का मरण दर्शनपण्डित मरण है। वह दर्शनपण्डित मरण नरक में भवनवासी देवों में, वैमानिक देवों में, ज्योतिष्क देवों में, व्यन्तर देवों में और द्वीप समुद्रों में होता है। ज्ञानपण्डित मरण भी इन्हीं में होता है। किन्तु केवलज्ञान और मन: पर्यायज्ञान पण्डितमरण मनुष्य लोक में ही होता है।

7) ओसण्णमरण- निर्वाण मार्ग पर प्रस्थान करने वाले संयमियों के संघ से हीन हो गया है उसे निकाल दिया गया है वह ओसण्ण कहलाता है। उसके मरण को ओसण्णमरण कहते हैं। ओसण्ण के ग्रहण से पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील और संसक्तो का ग्रहण होता है। कहा भी है- पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द कुशील और संसक्त ये ओसण्ण होते हैं क्योंकि ये मोक्ष के लिए प्रस्थान करने वाले साधु संघ से बाहर होते हैं।

ऋद्धियों के प्रेमी, रसों में आसक्त, दु:ख से भीत, सदा दु:ख से कातर, कषायों में संलग्न, आहारदि संज्ञा के अधीन, पाप वर्धक शास्त्रों के अभ्यासी, तेरह प्रकार की क्रियाओं में आलसी, सदा संक्लेश युक्त चित्त वाले, भोजन और उपकरणों से प्रतिबद्ध, निमित्तशास्त्र, मंत्र, औषध आदि से आजीविका करने वाले, गृहस्थों का वैयावृत्य करने वाले, गुणों से हीन, गुप्तियों और समितियों में उदासीन, संवेग भाव में मन्द, दस प्रकार के धर्म में मन को न लगाने वाले तथा सदोष चारित्र वाले मुनियों को अवसन्न कहते हैं। इस प्रकार से रहित रहते हुए ये बेचारे मरकर हजारों भवों में भ्रमण करते हैं। किन्तु दु:ख उठाते-उठाते पार्श्वस्थ रूप में चिरकाल तक विहार करके अन्त में आत्मा की शुद्धि करके यदि मरते हैं तो प्रशस्तमरण ही होता है।

8) बालपण्डित मरण-सम्यग्दृष्टि संयतासंयत के मरण को बालपण्डित मरण कहते हैं क्योंकि यह बाल और पण्डित दोनों ही होता है। इनके स्थूल हिंसा आदि से विरति रूप चारित्र और दर्शन और दोनों होते हैं अत: यह चारित्रपण्डित भी है और दर्शनपण्डित भी है। किन्तु कुछ सूक्ष्म असंयम से निवृत्त नहीं होता, इसलिए चारित्र में बाल है।

यह बालपण्डित मरण गर्भज और पर्याप्तक तिर्यञ्चों तथा मनुष्यों में होता है। दर्शनपण्डित मरण तो इनमें भी होता है और देव नारकियों में भी होता है।

9)सशल्यमरण- सशल्य मरण के दो भेद हैं क्योंकि शल्य के दो भेद हैं-द्रव्यशल्य और भावशल्य। मिथ्यादर्शन, माया और निदान इन शल्यों का कारण जो कर्म है उस कर्म को द्रव्यशल्य कहते हैं। द्रव्यशल्य के साथ मरण पाँचों स्थावरों, असंज्ञियों और त्रसों का होता हैं।

शङ्का- द्रव्यशल्य तो सर्वत्र है तब स्थावरों के क्यों कहा ?

समाधान- यहाँ भावशल्य से रहित द्रव्य शल्य की अपेक्षा है। यह कहा है कि सम्यग्दर्शन के अतिचारों का कारण दर्शनशल्य है और सम्यग्दर्शन स्थावरों में तथा विकलेन्द्रिय त्रसों में नहीं होता ।

आगामीकाल में यही होना चाहिए इस प्रकार के मन के उपयोग को निदान कहते हैं। असंज्ञियों में इस प्रकार का निदान नहीं होता। मोक्षमार्ग को दोष लगाना, मार्गका नाश करना, मिथ्यामार्ग का कथन करना या मोक्षमार्ग का कथन न करना, और जो मोक्षमार्गी हैं उनके भेद डालना ये मिथ्यादर्शनशल्य हैं। उनमें से निदान के तीन भेद हैं- प्रशस्त, अप्रशस्त और भोगकृत। परिपूर्ण संयम की आराधना करने की इच्छा से परभव में पुरुषत्व आदि प्राप्ति की प्रार्थना प्रशस्त निदान है। मानकषाय से प्रेरित होकर आगामी भव से उच्चकुल, सुन्दर रूप आदि की प्रार्थना अप्रशस्त निदान है। अथवा क्रोध के आवेश में आकर अपने शत्रु के वध की प्रार्थना, जैसे वशिष्ठ ने उग्रसेन के

विनाश की प्रार्थना की थी, अप्रशस्त निदान है। इस व्रतशील आदि के प्रभाव से इस भव में और परभव में इस प्रकार के भोग मुझे प्राप्त हों, इस प्रकार मन के संकल्प को भोगनिदान कहते हैं । असंयम सम्यग्दृष्टि अथवा संयतासंयत के निदानशल्य होता है। चिरकाल तक पार्श्वस्थ आदि साधु के रूप में विहार करने के पश्चात् भी जो आलोचना किये बिना मर जाता है उसका वह माया शल्य मरण होता है। ऐसा मरण संयत, संयतासंयत और अविरत सम्यग्दृष्टि में होता है।

10)बलायमरण - जो विनय वैयावृत्त्य आदि में आदर भाव नहीं रखता, प्रशस्त योग के धारण में आलसी है, प्रमादी है, व्रतों में समितियों में और गुप्तियों में अपनी शक्ति को छिपाता है, धर्म के चिन्तन में निन्द्रा के वशीभूत जैसा है, उपयोग न लगने से ध्यान नमस्कार आदि से दूर भागता है, उसका मरण बलायमरण है। दर्शन पण्डित, ज्ञान पण्डित, और चारित्र पण्डित के बलायमरण भी सम्भव है। ओसण्णमरण और सशल्यमरण में नियम से बलायमरण होता है। उनके अतिरिक्त भी बलायमरण होता है। जो शल्यरहित विरक्त होकर चिरकाल तक रत्नत्रय का पालन करता है किन्तु मरते समय संस्तर पर आरूढ होकर शुभोपयोग से दूर भागता है, उसके शुभभाव के स्थिर न रहने से बलायमरण होता है।

11) वसट्ट मरण-आर्त और रौद्रध्यान पूर्वक मरण को वसट्टमरण कहते हैं। उनके चार भेद हैं-इन्द्रियवसट्टमरण, वेदनावसट्टमरण, कसायवसट्टमरण और नोकसायवसट्टमरण। इन्द्रियवसट्टमरण इन्द्रियों के विषयों की अपेक्षा पाँच प्रकार का है। देवों, मनुष्यों, पशु-पक्षियों और अजीवों के द्वारा किये गये तत, वितत, घन और शुषिर मनोज्ञ शब्दों में शब्दों में राग और अमनोज्ञ शब्दों में द्वेष करते हुए मरण होता है। यह श्रोत इन्द्रियवसट्टमरण है। चार प्रकार के आहार में राग या द्वेष करते हुए मरण रसनेन्द्रियवसट्टमरण है। पूर्वोक्तदेव मनुष्य आदि की गन्ध में राग-द्वेष करते हुए मरण घ्राणेन्द्रिसवसट्टमरण है। उन्हीं के रूप आकार आदि में राग-द्वेष करने वाले का मरण स्पर्शनद्रियवसट्टमरण है। इस प्रकार इन्द्रिय और मन के वश से होने वाले आर्तध्यानपूर्वक मरण के भेद हैं।

वेदनावसट्टमरण के संक्षेप से दो भेद हैं- सातवेदनावशार्तमरण और असातवेदनावशार्तमरण। शरीरिक अथवा मानसिक दु:ख में उपयोग रहते हुए होने वाले मरण को दु:खशार्तमरण कहते हैं । अर्थात् जो दु:ख से मोह को प्राप्त हुआ उसका मरण दु:भयशार्तमरण है। तथा शरीरिक अथवा मानसिक सुख में उपयोग रहते हुए होने वाला मरण सातवशार्तमरण है।

कषाय के भेद से कषायवशार्तमरण के चार भेद होते हैं। अपने में, दूसरे में

अथवा दोनों में मारने के लिए उत्पन्न हुआ क्रोध मरण का कारण होता है। वह क्रोधवशार्तमरण है। मानवशआर्तमरण के आठ भेद हैं-कुल, रूप , बल शास्त्र, ऐश्वर्य, लाभ, बुद्धि अथवा तप से अपने को बडा मानते हुए मरण होने की अपेक्षा से आठ भेद होते हैं। मैं अति प्रसिद्ध विशाल उच्चकुल में उत्पन्न हुआ हूँ ऐसा मानते हुए होने वाले मरण को कुलमानवश आर्तमरण कहते हैं। मेरा शरीर सशक्त पाँच इन्द्रियों से पूर्ण है, तेजस्वी और नवयौवन से सम्पन्न है, मेरा रूप समस्त जनता के चित्त को मर्दन करता है, ऐसी भावना होते हुए जो मरण होता है वह रूप वश आर्तमरण है। मैं वृक्ष पर्वत आदि को उखाडने में समर्थ हूँ, लडने में समर्थ हूँ , मेरे साथ मित्रों का बल है, इस प्रकार बल के अभिमान को धारण करते हुए होने वाला मरण बलमानवश आर्तमरण है। मैं बहुत परिवार वाला हूँ, मेरा शासन बहुतों पर है इस प्रकार ऐश्वर्य के मानसे उन्मत्त का मारण ऐश्वर्यमान-वशार्त मरण है। मैंने लोक, वेद, समय और सिद्धान्त सम्बन्धी शास्त्रों को पढा है इस प्रकार शास्त्रों के मान से उन्मत्त मरण श्रुतमानवश आर्तमरण है। मेरी बुद्धि तीक्ष्ण है, सब विषयों में उसकी बेरोक गति है इस प्रकार प्रज्ञा के मद से मत्त के मरण को प्रज्ञामानवश आर्तमरण कहते हैं। व्यापार करने पर मुझे सर्वत्र लाभ होता है इस प्रकार लाभ का मान करते हुए होने वाले मरण को लाभ मानवशार्तमरण कहते हैं। मैं तप करता हूँ , तपश्चरण में मेरे समान दूसरा नहीं है। ऐसा संकल्प करते हुए होने वाले मरण को तपमानवशार्तमरण कहते हैं।

माया के पाँच भेद हैं- निकृति, उपधि, सातिप्रयोग, प्रणधि और प्रतिकुञ्चन। दूसरों की गुप्त बातों की खोज में कुशलता, तथा धन अथवा किसी कार्य की अभिलाषा वाले को ठगना निकृति है। समीचीन भाव को छिपाकर धर्म के बहाने से चोरी आदि दोषों में प्रवृत्ति को उपधि नामक माया कहते हैं। अर्थ (धन) के विषय में झगडा करना, अपने हाथ में रखे द्रव्य को हर लेना, प्रयोजन के अनुसार दोष लगाना या प्रशंसा करना सातिप्रयोग माया है। असली वस्तु में उसके समान नकली वस्तु मिलाना, कमती बढती तोलना, मिलावट के द्वारा द्रव्य का विनाश करना ये प्रणधिमाया है। आलोचना करते समय दोषों को छिपाना प्रतिकुंचन माया है। इस प्रकार के मायाचार पूर्वक होने वाले मरण को मायावशार्त मरण कहते हैं। उपकरणों में, खान-पान के क्षेत्रों में, शरीर में निवास स्थानों में इच्छा और ममत्व रहते हुए होने वाले मरण को लोभवशार्तमरण कहते हैं। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, और पुरुषवेद को लेकर जिसकी बुद्धि मूढ हो गई है उसका मरण नोकषायवशावर्तमरण है। नोकषायवशार्तमरण से मरा हुआ प्राणी मनुष्य योनि, तिर्यञ्चयोनि, तथा असुर, कन्दर्प और किल्विषजाति के देवों में उत्पन्न होता है। मिथ्यादृष्टि के होने वाला यही मरण

बालमरण होता है। दर्शनपंडित, अविरतसम्यग्दृष्ठि और संयतासंयत के भी वशार्तमरण होता है। उनका मरण बालपंडित मरण अथवा दर्शनपंडित मरण होता है।

12) पिप्पणास-मरण (13) गिद्धपुट्ठ मरण- पिप्पणास और गिद्धपुट्ठ नामक के दो मरण ऐसे हैं जिनका निषेध भी नहीं है अनुज्ञा भी नहीं है। दुर्भिक्ष में, भयानक जंगल में, पूर्वशत्रु का भय होने पर, या दुष्ट राजा का भय होने पर, चोर का भय होने पर, तिर्यञ्चकृत उपसर्ग होने पर अकेले सहन करना अशक्य है, या ब्रह्मचर्यव्रत का विनाश आदि दूषण चारित्र में होने पर विरक्त और पाप से डरने वाला साधु कर्मों का उदय उपस्थित जानकर उसे सहनें में असमर्थ होने से उससे निकलने का उपाय न होने पर पाप कर्म करने से डरता हुआ, साथ ही विराधना पूर्वक मरण से डरता हुआ विचारता है इस काल में इस प्रकार के कारण उपस्थिति होने पर कैसे कुशल रह सकती है, यदि उपसर्ग के भय से डरकर संयम से भ्रष्ट होता हूँ तो संयम से भी भ्रष्ट और दर्शन से भी भ्रष्ट होता है। और बिना संक्लेश के वेदना को सहन कर नहीं सकता। तब मैं रत्नत्रय के आराधक से डिग जाऊँगा, ऐसी निश्चित मति करके सम्यक्त्व और चारित्र में विशुद्ध, धैर्यशाली, ज्ञानी से सहायता लेने वाला वह साधु किसी निदान के बिना अर्हन्त के पास में आलोचना प्रायश्चित्त लेकर शुभलेश्या पूर्वक श्वासोच्छ्वास का निरोध करता है। उसे विप्पणास मरण कहते हैं। और शस्त्रग्रहण से होने वाले मरण को गिद्धपुट्ठ कहते हैं।

मरण के भेदों का यह प्रदर्शन सर्वत्र कर्तव्य रूप से किया जाता है। किन्तु प्रायोपगमन, इंगिणी-मरण और भक्तप्रत्याख्यान ये तीन ही मरण उत्तम हैं, पूर्व पुरुषों ने इनका पालन किया है। इस प्रकार संक्षेप से पूर्व आगम के अनुसार सतरह मरणों का व्याख्यान यहाँ किया।

5 प्रकार के मरण-

पंडिदपंडिदमरणं पडिदयं बालपंडिदं चेव।
बालमरणं चउत्थं पंचमयं बालबालं च।।26

पण्डितपण्डितमरण,पण्डितमरण, बालपण्डितमरण, चौथा बाल मरण और पाँचवा बाल-बालमरण, ये पाँच मरण है।

शंङ्का- यदि भव पर्याय के विनाश को मरण कहते हो तो उसका भेद कैसा ? भवपर्याय तो अनेक हैं और उनका विनाश मरण है तब मरण के भेद उतने क्यों नहीं होंगे। अत: मनुष्य में मरण के पाँच प्रकार ठीक नहीं है। एक जीव की भी भवपर्याय अनन्त होती हैं तब नाना- जीवों की अपेक्षा पाँच भेद कैसे संभव हैं? यदि कहोगे कि प्राणी का प्राणों से वियोग मरण है तो वह सामान्य से एक ही प्रकार का है। प्राण भेद की अपेक्षा लेना हो तो दस भेद हो सकते हैं? यदि उदय प्राप्त कर्म पुद्गलों के गलने का नाम मरण है तो कर्म पुद्गलों का गलन तो प्रति समय होता है अत: पाँच भेद नहीं बनते?

समाधान-गुण भेद की अपेक्षा जीवों के पाँच भेद करके उनके सम्बन्ध से मरणके पाँच भेद कहे हैं। अन्य व्याख्याकार पण्डितपण्डितमरण आदि पाँच मरणों को प्रशस्ततम, प्रशस्ततर, ईषत् प्रशस्त, अविशिष्ट और अविशिष्टतर कहते हैं। हम उनसे पूछते हैं कि पण्डित शब्द का प्रशस्त अर्थ में प्रयोग कहाँ देखा है जिससे आप ऐसी व्याख्या करते हैं तथा यह व्याख्यान अन्य आगमों के अनुकूल नहीं है।

आगम में कहा है- व्यवहार में, सम्यक्त्व में, ज्ञान में और चारित्र में पण्डित के मरण को पण्डित मरण कहते हैं अत: उसके चार भेद हैं। इस प्रकार के चार प्रकार पण्डित कहे हैं। उनके मध्य में जिसका पाण्डित्य, ज्ञान, दर्शन और चारित्र में अतिशय शाली है उसे पडिण्तपण्डित कहते हैं। उसके पाण्डित्य के प्रकर्ष से रहित जिसका पाण्डित्य होता है उसे पण्डित कहते हैं। पूर्व में व्याख्यात बालपन और पाण्डित्य जिसमें होते हैं वह बालपण्डित होता है। उसका मरण बालपण्डितमरण है। और जिसमें चारों प्रकार के पाण्डित्य में से एक भी पाण्डित्य में एक भी पाण्डित्य नहीं है वह बाल है और जो सबसे हीन है वह बालबाल मरण है।

1) पण्डितपण्डित मरण-

पण्डिदपण्डितमरणे खीणकसाया मरंति केवलिणो।
विरदाविरदा जीवा मरंति तदियेण मरणेण।।27

पण्डितपण्डितमरण से क्षीण कषाय और अयोगकेवली मरते हैं। विरताविरत जीव तीसरे मरण से मरते हैं।

पण्डितपण्डितमरण मरते हैं'यहाँ पण्डितपण्डित नामक विशेष मरण को मरते हैं' इस सामान्य मरण के कर्म रूप से कहा है। जैसे बैल के समान पुष्ट को सामान्य पुष्ट शब्द से कहा है। जो 'कषन्ति' अर्थात् आत्मा का घात करती हैं उन्हें कषाय कहते हैं। कषाय शब्द से वनस्पतियों के छाल, पात्र, जड, और फल का रस कहा जाता है। वह रस जैसे वस्त्रादि के रंग को बदलदेता है इसी प्रकार जीव के क्षमा, मार्दव, आर्जव और सन्तोष नामक गुणों को नष्ट करके अन्यथा कर देते हैं इसलिए क्रोध,मान, माया, लोभ को कषाय कहते हैं। वे कषाय जिनकी क्षीण हो गई हैं -नष्ट हो गई हैं वह क्षीण कषाय होते है । कषाय वेदनीय नामक द्वय कर्मों का विनाश होने से उनका निमित्त पाकर होने वाली भावकषाय जिनकी नष्ट हो गई है वे क्षीणकषाय कहे जाते हैं। केवल अर्थात् असहाय ज्ञान, जो इन्द्रियाँ, मन, प्रकाश आदि की अपेक्षा न करके एक साथ समस्त द्रव्य-पर्यायों को जानने में समर्थ हैं वह केवलज्ञान है। वह जिनके हैं वे केवली होते हैं। यद्यपि केवली शब्द केवलज्ञान रूप वस्तु सामान्य में प्रवृत नहीं होता, तथापि सयोग-केवली का मरण असम्भव होने से अयोगकेवली का ग्रहण होता है। दूसरे व्याख्याकार 'क्षीणकषाय और

श्रुतकेवली' ऐसा व्याख्यान करते हैं। उनका वह व्याख्यान ठीक नहीं है। श्रुत शब्द के बिना केवली शब्द का प्रयोग किसी भी आगम में समस्त श्रुतधारी के लिए नहीं देखा।यदि शब्द का प्रसिद्ध अर्थ असम्भव ही हो तो जिस किसी तरह अन्य अर्थ किया जा सकता है। जब सम्भव अर्थ प्रतीति सिद्ध है। तो उसे कैसे छोडा जा सकता है? दूसरे ,पाण्डित्यका प्रकर्ष वहाँ क्षायिकज्ञान , क्षायिकदर्शन और क्षायिक चारित्र की अपेक्षा लिया गया है, वह श्रुतकेवली में नहीं हैं।

जो स्थूल हिंसा आदि से निवृत्त होने से विरत और सूक्ष्म हिंसा आदि से अनिवृत्त होने से अविरत होते हैं वे जीव विरताविरत होते हैं। यदि वे विरत हैं तो अविरत कैसे हैं और अविरत हैं तो विरत कैसे हैं इस प्रकार के विरोध की आशङ्का नहीं करना चाहिए। अपेक्षा भेद से विरतपने और अविरतपने में विरोध को कोई स्थान नहीं हैं। जैसे एक द्रव्य में एक ही समय में द्रव्य रूप की अपेक्षा नित्यपना और पर्यायरूप की अपेक्षा अनित्यपना में कोई विरोध नहीं आता। अथवा अप्रत्याख्यानावरण कषायों का क्षयोपशम होने पर स्थूल हिंसा आदि से में विरत हूँ किन्तु सूक्ष्म हिंसादि से विरत नहीं हूँ इस प्रकार का एक ही परिणाम होता है। विरोध तो उनमें होता है जो एक आधार में न रहकर अनेक आधारों में हैं जैसे शीतस्पर्श आदि में विरोध हैं। अस्तु,

द्रव्यप्राण और भावप्राणों को धारण करने से जीव कहे जाते हैं। विरताविरत जीव तीसरे मरण से मरते हैं।

शंका - यहाँ तृतीय से यदि वस्तु के परिणामों की वृति का क्रम लेते हैं तो गणना करने पर दोपना या तीनपना प्राप्त होता है। गुणस्थान की अपेक्षा सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही तीसरा है, संयतासंयत नहीं है तब कैसे तीसरा कहते हैं। तथा सामान्य की अपेक्षा मरण तो एक ही है तीसरा पना कैसे? विशेष की अपेक्षा अतीत मरण अनन्त है और भाविमरण उससे भी अधिक सम्भव है? समाधान- सूत्र में जिस क्रम से मरणों का निर्देश किया है उसकी अपेक्षा तीसरा लेना चाहिए।

शंङ्का- विरताविरत परिणाम विशेषका निर्देश करने से ही जीव द्रव्य का ज्ञान हो जाता है तब गाथा में जीवा पद व्यर्थ है?

समाधान -व्यर्थ नहीं है यह मतान्तर की निवृत्ति के लिए है। सांख्यमतवाले मरण को प्रकृति का धर्म मानते हैं। क्योंकि उनके मत में पुरुष सर्वथा नित्य है। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि आत्मा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है।

शङ्का- पण्डितपण्डितमरण के अनन्तर पण्डितमरण आता है। उसे छोडकर तीसरे मरण का स्वामी क्यों कहा, क्रम का उल्लंघन करने का प्रयोजन क्या है यह कहना चाहिए?

समाधान- उत्कृष्ट और जघन्य पण्डितत्व के मध्य में रहने वाला पण्डितत्व है यह कहने के लिए दोनों अवधियों को बतलाया है। अथवा पण्डित मरण के सम्बन्ध में बहुत कहना है इसलिए उसे अलग रख कर थोडा कथन होने के कारण बाल पण्डितमरण को ही पहले कहा है।

2) पण्डित मरण-

पायोपगमण मरणं भत्तपइण्णा य इंगिणी चेव ।
तिविहं पंडितमरणं साहुस्स जहुत्तचारिस्स ।।28

पादोपगमन मरण, भक्तप्रतिज्ञा और इंगिनीमरण इस प्रकार पण्डितमरण तीन प्रकार का है। वह शास्त्र में कहे अनुसार आचरण करने वाले साधु के होता है।

पाद अर्थात् पैरों से उपगमन पूर्वक होने वाले को पादोपगमन मरण कहते हैं।

शंङ्का-शेष दोनों मरणों में भी पैरों से उपगमन होता है अत: तीन भेद नहीं बनते ?

समाधान- यह पादोपगमन रुढि रूप से मरण विशेष में प्रवृत्त होता है। इसका लक्षण आगे कहेंगे। रुढ शब्दों में ग्रहण की गई क्रिया शब्द की व्युत्पति के लिए ही होती है। जैसे जो चलती है वह गौ हे। इस प्रकार गौ शब्द की व्युत्पति करने पर भी यद्यपि यह व्युत्पत्ति गमन क्रिया को लेकर है किन्तु गौ शब्द से भैंस आदि नहीं कहे जा सकते । अथवा 'पाउग्गगमणमरणं' पाठ है। यहाँ प्रयोग्य शब्द से संसार का अन्त करने के योग्य संहनन और संस्थान कहे जाते हैं। उसके गमन अर्थात् प्राप्ति को प्रायोग्यगमन कहते हैं। उसके कारण होने वाले मरण को प्रायोग्यगमन मरण कहते हैं। भज्यते अर्थात् जो सेवन किया जाये वह भक्त है। उसकी 'पइण्णा' अर्थात् त्याग भक्त पइण्णा है। भोजन का त्याग शेष दोनों मरणों में भी सम्भव हैं फिर भी रूढीवश भत्तपइण्णा शब्द मरण विशेष का ही बोधक होता है। इंगिणी शब्द से आत्मा का इंगित अर्थात् संकेत कहा जाता है। अपने अभिप्राय के अनुसार रह कर होने वाले मरण इंगिणीमरण है। इस तरह पण्डितमरण तीन प्रकार है। पण्डितमरण किस के होता है ? श्रुत में जिस प्रकारो से कहा है उसी प्रकार आचरण शील साधु के होता है। सभी सदाचार वाले मनुष्य, वे संयमी हो या असंयमी, लोक में साधु शब्द से कहे जाते हैं। इसलिए संयमी का ग्रहण करने के लिए 'यथोक्तचारी' विशेषण दिया है। अपने पैरों से चलकर अर्थात् संघ से निकलकर योग्य देश में आश्रय लेना पादोपगमन है। इसमें न स्वयं अपनी सेवा करता है और न दूसरे से कराता है। भक्त प्रतिज्ञामरण में स्वयं भी अपनी वैयावृत्य करता है और दूसरों से भी कराता है इंगिणीमरण में अपनी वैयावृत्य स्वयं ही करता हे दूसरों से नहीं कराता। पादोपगमन को प्रायोपगमन भी कहते हैं और प्रायोपवेशन भी कहते हैं । 'प्राय'का अर्थ संन्यास है।

3) बालमरण (4) बाल-बाल मरण-

अविरद्सम्मादिट्ठी मरंति बालमरणे चउत्थम्मि ।
मिच्छादिट्ठी य पुणो पंचमए बालबालम्मि ।।29

अविरत सम्यग्दृष्टि चतुर्थ बालमरण में मरते हैं। मिथ्यादृष्टि पाँचवें बाल-बालमरण में मरते हैं।इस गाथा का अर्थ प्रसिद्ध होने से इसकी व्याख्या नहीं करते ।

शङ्का- यहाँ शंङ्का करते हैं। ग्रन्थकार ने 'क्रम से आराधना को कहूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा की है। वह आराधना दो प्रकार की है- दर्शनाराधना और चारित्राराधना। उनका व्याख्यान न करके मरण के भेद और उनके स्वामीयों का कथन क्यों किया गया? विद्वान गण प्रस्तुत के परित्याग और अप्रस्तुत के कथन को सहन नहीं करते?

समाधान- वीच में मरण का कथन किया है वह अप्रशस्त नहीं है। आराधना होने वाले मरण का ही इस शास्त्र में कथन करना इष्ट है। वही इसका अभिधेय-प्रतिपाद्य विषय है। और आराधक के बिना आराधना होना असम्भव है। अत: स्वामी का भी कथन करना ही चाहिए। यह आचार्य का अभिप्राय है।

प्रकरण-4
समाधि सम्बन्धी परीक्षा

तो तस्स उत्तमट्ठे करणुपडिच्छदि विदण्हू।
खीरोदणदव्वुग्गहदुगुंछणाए समाधीए।।517

उसके पश्चात् मार्ग को जानने वाले आचार्य क्षपक के रत्नत्रय की आराधना करने में उत्साह की परीक्षा करते हैं कि उसके आराधना करने का उत्साह है या नहीं हैं। तथा दूध भात आदि द्रव्य को ग्रहण करने में इनकी लोलुपता है या ग्लानि है ऐसी परीक्षा करते हैं। यहाँ दूध भात मनोज्ञ आहार का उपलक्षण है। अत: आहार के सम्बन्ध में उसकी परीक्षा करते हैं। यह परीक्षा समाधि के निमित्त की जाती है।

खवयस्सुवसंपण्णस्स तस्स आराघणा अविक्खेवं।
दिव्वेण णिमित्तेण य पडिलेहदि अप्पमत्तो सो।।518

आराधना के निमित्त से अपने पास आये क्षपक की आराधना निर्विघ्न होने के लिए आचार्य प्रमाद रहित होकर दिव्य निमित्तज्ञान के द्वारा परीक्षा करते हैं कि इसकी आराधना निर्विघ्न होगी या नहीं होगी।

रज्जं खेत्तं अधिवदिगणमप्पाणं च पडिहित्ताणं।
गुणसाधणो पडिच्छदि अप्पडिलेहाए बहुदोसा।।519

सम्यक्त्व आदि गुणों का साधक वह आचार्य राज्य, क्षेत्र, अधिपति, गण, और अपने शरीर की परीक्षा करके क्षपक को ग्रहण करता है। अन्यत्र 'गुणसाधणं' पाठ मिलता है। उसके अनुसार आचार्य गुणों की साधना के लिए उद्यत साधुको ग्रहण करता है। उक्त परीक्षा न करने में बहुत दोष हैं।

उन्हें ही कहते हैं-क्षपक की आहार विषयक तृष्णा दूर हुई है या नहीं, ऐसी परीक्षा यदि नहीं की और क्षपक आहार में तृष्णा रखने वाला हुआ, तो रात दिन आहार की ही चिन्ता करने पर कैसे आराधक हो सकता है। भूख प्यास परीषहों को न सहने से चिल्ला-चिल्लाकर धर्म को दूषित करेगा। आराधना में विघ्न आयेगा या नहीं, इसकी परीक्षा न करके यदि उस विघ्न को दूर नहीं किया जाय तो क्षपक का भी कार्य सिद्ध न हो और स्वयं आचार्य लोगों की निन्दा का पात्र बने। जो आचार्य राज्य क्षेत्र आदि की अच्छे बुरे की परीक्षा करता है वह यदि क्षपक और राज्य आदि का अशुभ देखता है तो उस क्षपक को लेकर अन्य राज्य और अन्य क्षेत्र आदि में चला जाता है। ऐसा करने से वह क्षपक का उपकार करता है। परीक्षा न करने पर यदि राज्य आदि में उत्पात हुआ तो क्षपक और आचार्य दोनों को कष्ट उठाना पडता है। यदि गण का अपना अनिष्ट देखता

है तो आचार्य कार्य के प्रारम्भ नहीं करता। अत: बिना परीक्षा किये कार्य करने वाला आचार्य न क्षपक का उपकार करता है और न अपना उपकार करता है।

समाधि सम्बन्धी संघ से विचार विमर्श -

पडिचरए आपुच्छिय तेहिं णिसिट् टं पडिच्छदे खवयं।
तेसिमणापुच्छाए असमाधि होज्ज तिण्हंपि।।520

आचार्य परिचर्या करने वाले यतियों से पूछता है- वह क्षपक रत्नत्रय की साधना में हमारी सहायता चाहता है। साधु समाधि और वैयावृत्य करना तीर्थंकर नामकर्म के बन्ध के कारण हैं यह आप जानते ही हैं। अत: कहिये, हम लोग इस पर अनुग्रह करें या न करें? प्राय: लौकिकजन भी परोपकारी और परोपकार के लिए सदा तत्पर रहने वाले होते हैं। तब यतिजनों का तो कहना ही क्या है? वे तो समस्त निकट भव्यजीवों को गहरे संसार पंक से निकालने में तत्पर रहते हैं। आगम में भी कहा है- 'आत्म का हित करना चाहिए । यदि शक्य हो तो परहित भी करना चाहिए।' अत: क्या इसके कल्याण का उद्योग करना चाहिए या नहीं। इस प्रकार आचार्य के पूछने पर यदि वे स्वीकार करते हैं तो आचार्य क्षपक को स्वीकार करते है। परिचारक यतियों से न पूछने पर आचार्य, क्षपक और संघ तीनों को ही संक्लेश होता है। हम लोगों ने इस क्षपक को स्वीकार नहीं किया ऐसा मानकर यतिगण यदि उसकी विनय या वैयावृत्य न करें तो क्षपक को संक्लेश होता है कि ये मेरा कुछ भी नहीं करते। गुरु को भी संक्लेश होता है कि मैंने इसका उपकार करना प्रारम्भ किया किन्तु वे इसमें सहायता नहीं करते। परिचारक यतियों को भी संक्लेश होता हे कि यह कार्य बहुत जनों के करने का है किन्तु हमारा गुरु यह नहीं मानता और न हमारे बलाबल की परीक्षा करता है।

समाधि सम्बन्धी प्रतिपृच्छा-

एगो संथारगदो जजइ सरीरं जिणोवदेसेण।
ऐगो सल्लिहदि मुणी उग्गेहिं तवोविहाणेहिं।।521

एक मुनि तो संस्तर पर चढकर जिनेन्द्र के उपदेश से शरीर को आराधना में लगाता है। एक मुनि उग्रतप करके शरीर को कृश करता है।

तदिओ णाणुण्णादो जजमाणस्स हु हवेज्ज वाघादो।
पडिदेसु दोसु तीसु य समाधिकरणाणि हायन्ति।।522

तीर्थंकर ने एक निर्यापक आचार्य के द्वारा अनुग्राह्य तीसरे यति की अनुज्ञा नहीं दी है अर्थात् एक आचार्य की देख-रेख में एक साथ एक दो ही मुनि सल्लेखना कर सकते हैं क्योंकि तपरूपी अग्नि में अपने शरीर की आहुति देने वाले मुनि की समाधि में विघ्न आता है। इसका कारण यह है कि यदि दो या तीन क्षपक संस्तर पर पड जायें तो

चित्त को समाधान देनेवाली विनय वैयावृत्य आदि में कमी आती है।

तम्हा पडिचरणयाणं सम्मदमेयं पडिच्छदे खवयं।
भणदि य तं आयरियो खवयं गच्छस्स मज्झम्मि ।।523

अत: आचार्य एक ही क्षपक को स्वीकार करते हैं जो परिचर्या करने वाले यतियों को इष्ट होता है। तथा आचार्य गण के मध्य में क्षपक को शिक्षा देते हैं जिससे गण भी समाधि को जान जाये।

फासेहि तं चरित्तं सव्वं सुहसीलयं पयहिदूण।
सव्वं परीसहचमुं अधियासंतो धिदिबलेण ।।524

हे क्षपक ! तुम धैर्य के बल से सम्पूर्ण सुखशीलता को त्यागकर सम्पूर्ण परीषहों की सेना को सहन करते हुए चारित्र को धारण करो। सुखशीलता से चारित्र मन्द होता है क्योंकि सुखशील मुनि भोजन, उपकरण और वसतिका शोधन नहीं करता। जो स्वादिष्ट भोजन का लम्पटी होता है न वह भिक्षा का शोधन करता है और न उपकरण का शोधन करता है। तथा सुखशील मुनि उद्गम आदि दोष का परिहार नहीं करता, उसका मन तो मनोज्ञ भोजन और उपकरण में रहता है। कष्ट न सहकर जिस किसी की वसति में ठहर जाता है।

सद्दे रूवे गंधे रसे य फासे य णिज्जिणाहि तुमं।
सव्वेसु कसाएसु य णिग्गहपरमो सदा होइ ।।525

हे यति ! तुम शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श इन पाँच इन्द्रियों के विषयों को जीतो।

शङ्का- शब्द आदि इन्द्रियों के विषय हैं उनको जीतना कैसे? उन विषयों में राग बन्ध का कारण है। अत: उनके विरोधी वैराग्य भावना के द्वारा उनको जीतने का उपदेश देना चाहिए?

समाधान-सूत्र उपस्कार सहित होते हें अत: शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में जो राग है उसे तुम जीतो ऐसा पद का सम्बन्ध होता है। अथवा जो शब्दादि विषयों के वश में नहीं है उसे जीतने वाला कहते हैं। जैसे जो स्त्री पुरुष की अनुगामिनी नहीं होती उसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि इसने पुरुष को जीत लिया।

समाधि ग्रहण के योग्य काल- हेमन्त ऋतु-

एवं वासारत्ते फासेदूण विविधं तवोकम्मं।
संथारं पडिवज्जदि हेमंते सुहविहारम्मि ।।630

इस प्रकार वर्षाकाल में नाना प्रकार के तप करके सुख विहार वाले हेमन्त ऋतु में संस्तर का आश्रय लेता है। हेमन्त ऋतु में अनशन आदि करने पर महान् परिश्रम नहीं

होता, सुख पूर्वक हो जाता है इसलिए उसे सुखविहार कहा है।

सव्वपरियाइयस्स य पडिक्कमित्तु गुरुणो णिओगेण।

सव्वं समारुहित्ता गुणसंभारं पविहरिज्जा ।।631

समस्त ज्ञान दर्शन और चरित्र के अतिचारों से शुद्ध होकर, गुरु के उपदेश से समस्त गुणों के समूह को धारण करके क्षपक को समाधि मरण में लगना चाहिए।

समाधि योग्य एवं अयोग्य वसतिका-

गंधव्वणट्टजट्टस्सचक्कजंतग्गिकम्मफरुसे य।

णत्तियरजया पाडहियडोंबणडरायमग्गे य ।।632

गायनशाला, नृत्यशाला, गजशाला, अश्वशाला, कुम्भकारशाला, यन्त्रशाला, शंख हाथी दाँत आदि का काम करने वालों का स्थान, कोलिक, धोबी, बाजा बजाने वाले, डोम, नट और राजमार्ग के समीप का स्थान।

चारणकोट्टगकल्लालकरकचे पुप्फदयसमीपे य।

एवंविधवसधीए होज्ज समाधीए वाधादो ।।633

चारणशाला, पत्थर का काम करने वालों का स्थान, कलालों का स्थान, आरा से चीरने वालों का स्थान, पुष्पवाटिका, मालाकारका स्थान, जलाशय के समीप का स्थान वसति के योग्य नहीं है। ऐसी वसतिका में रहने से समाधि का व्याघात होता है। इन्द्रियों के विषय मनोज्ञ शब्द रूप आदि के सम्बन्ध से तथा शब्दों की बहुलता-होहल्ले से ध्यान में

विघ्न होता है। इसलिए ऊपर कही वसतिकाओं का निषेध किया है।

पंचिदियप्पयारो मणसंखोभकरणो जहिं णत्थि ।

चिट्ठदि तहिं तिगुत्तो ज्झाणेण सुहप्पवत्तेण ।।634

जहाँ मन को संक्षोभ करने वाला पाँचों इन्द्रियों का अपने विषयों में उत्सुकतापूर्वक गमन संभव नहीं है उस वसतिका में साधु क्षपक मन, वचन, काय को गुप्त करके, सुखपूर्वक ध्यान करता हुआ निवास करता है।

अविचार समाधि-मरण-

तत्थ अविचारभत्तपइण्णा मरणम्मि होइ आगाढो।

अपरक्कम्मस्स मुणिणो कालम्मि असंपुहुत्तम्मि ।।2005पृ.871

जब विचार पूर्वक भक्तप्रत्याख्यान करने का समय न रहे, और सहसा मरण उपस्थित हो जाये तो कुछ करने में असमर्थ मुनि अविचार भक्त प्रत्याख्यान स्वीकार करता है।

तत्थ पढमं णिरुद्धं णिरुद्धंतरयं तहा हवे विदियं।

तदियं परमणिरुद्धं एवं तिविधं अवीचारं ।।2006

अविचार भक्तप्रत्याख्यान के तीन भेद है- प्रथम निरुद्ध, दूसरा निरुद्धतर और तीसरा परम निरुद्ध।

तस्स णिरुद्ध भणिदं रोगादंकेहिं जो समभिभूदो।
जंघाबल परिहीणो परगणगमणम्मि ण समत्थो।।2007

निरुद्ध किसके होता है, यह कहते है-

जो रोग से गस्त है, पैरों में चलने की शक्ति न होने से दूसरे संघ में जाने में असमर्थ है उसके निरुद्ध नामक अतिचार प्रत्याख्यान होता है।

जावय बलविरियं से सो विहरदि ताव णिप्पडीयारो।
पच्छा विहरदि पडिजग्गिज्जंतो तेण सगणेण।।2008

जब तक उसमें शक्ति रहती है तब तक वह अपने संघ में रहते हुए किसी से परिचर्या नहीं कराता। पीछे शक्तिहीन होने पर अपने संघ द्वारा परिचर्या कराता हुआ विहरता है।

इय सण्णिरुद्धमरणं भणियं अणिहारिमं अवीचारं।
सो चेव जधाजोग्गं पुव्वुत्तविधी हवदि तस्स।।2009

पैरों में चलने की शक्ति न होने से तथा रोग से ग्रस्त होने के कारण जो अपने ही संघ में निरुद्ध है- रुका है उसके मरण को निरुद्धमरण कहते हैं। इस प्रकार निरुद्धमरण का स्वरूप कहा है। सविचार भक्तप्रत्याख्यान में जिस प्रकार संघ आदि का त्याग किया जाता है वह इसमें संभव न होने से यह मरण परित्याग से रहित है और इसमें अनियत विहार आदि विधि का विचार न होने से यह विचार है। अर्थात् अपने ही संघ में आचार्य के समीप में दीक्षा लेकर उनका अपने दोष कहकर अपनी निन्दा और गर्हा करता है, प्रतिक्रमण करता है, प्रायश्चित्त लेता है और जब तक शक्ति रहती है तब तक दूसरे की सहायता के बिना अपनी आराधनाओं का पालन करता है।

दुविधं तं पि अणीहारिमं पगासं च अप्पगासं च
जणणादं च पगासं इदरं च जणेण अण्णादं।।2010

वह अनिहार नामक भक्तप्रत्याख्यान, जिसमें अपना संघ नहीं छोडा जाता है, और इसलिए जिसे स्वगणस्थ भी कहा जाता है, दो प्रकार है- एक प्रकाशरूप और दूसरा अप्रकाशरूप। जो लोगों के द्वारा ज्ञात होता है वह प्रकाशरूप है और जिसकी लोगों को खबर नहीं होती, वह अप्रकाश रूप है।

खवयस्य चित्तसारं खित्तं कालं पडुच्च सजणं वा।
अण्णम्मि य तारिसयम्मि कारणे अप्पगासं तु।।2011

क्षपक के मनोबल, क्षेत्र, काल अथवा स्वजन तथा इस प्रकार के अन्य कारण

के होने पर उसे दृष्टि में रखकर अप्रकट भक्तप्रत्याख्यान होता है। अर्थात् यदि क्षपक भूख प्यास आदि के परिषह सहने में असमर्थ होता है, या वसति एकान्त में नहीं होती, या ग्रीष्म आदि ऋतु होती है, या परिवार के लोग विघ्न कर सकते हैं तो समाधि को प्रकट नहीं किया जाता है।

बालग्गिवग्घमहिसगयरिंछपडिणीय तेण मिच्छेहिं।
मुच्छाविसूचियादीहिं होज्ज सज्जो हु वावत्ती।।2012

निरुद्ध समाधि की विधि

सर्प, आग, व्याघ्र,भैंसा, हाथी, रीछ, शत्रु, चोर, म्लेच्छ, मूर्छा या विसूचिका आदि रोग से यदि तत्काल मरण उपस्थिति हो।

जाव ण वाया क्खियदि बलं च विरियं च जाव कायम्मि।
तिव्वाए वेदणाए जाव य चित्तं ण विक्खित्तं।।2013

तो जब तक बोली बन्द न हो, जब तक शरीर में बल और शक्ति रहे, और जब तक तीव्र वेदना के कारण चित्त व्याकुल न हो ।

णच्चा संवट्टिज्जंतमाउगं सिग्घमेव तो भिक्खू।
गणियादिणं सण्णिहिदाणं आलोचए सम्मं।।2014

साधु, अपनी आयु को शीघ्र ही समाप्त होता है यह जानकर जो निकटवर्ती आचार्य आदि हों उनके सन्मुख अपने दोषों की सम्यक्रूप से आलोचना करे। तथा रत्नत्रय की आराधना में तत्पर होता हुआ वसति,संस्तर , आहार, उपधि, शरीर और परिचारक कों से ममत्व त्याग कर दे। बल और वीर्य के क्षीण होने से जिनके प्रदेश अन्य संघ में जाने में अत्यन्त असमर्थ होते है उन्हें निरुद्धतर कहते हैं।

एवं णिरुद्धदरयं विदियं अणिहारिमं अवीचारं।
सो चेव जधाजोगं पुव्वत्तविधी हवदि तस्स।।2015

इस प्रकार विहार रहित अत्यन्त निरोध रूप अविचार भक्तप्रत्याख्यान के दूसरे भेद निरुद्ध का कथन किया। पूर्व में भक्तप्रत्याख्यान की जो विधि कही है वही विधि यथा योग्य यहाँ भी जानना।

वालादिएहिं जइया अक्खित्ता होज्ज भिक्खुणो वाया।
तइया परमणिरुद्धं भणिदं मरणं अवीचारं।।2016

जब पूर्वोक्त सर्प आदि से डसे जाने के कारण क्षपक की वाणी नष्ट हो जाती है, वह बोल नहीं सकता तब उसके परम निरुद्ध नामक अविचार भक्तप्रत्याख्यान होता है। यहाँ परम शब्द से वाणी का रुकना कहा है।

णच्चा संवट्टिज्जंतमाउगं सिग्घमेव तो भिक्खू।

अरहंतसिद्धसाहूण अंतिगं सिग्घमालोचे ।।2017

तब वह साधु शीघ्र ही अपनी आयु को समाप्त होती हुई जान अर्हन्तों, सिद्धों और साधुजनों के पास में तत्काल आलोचना करे।

आराधणाविधी जो पुव्वं उववण्णिदो सवित्थारो।

सो चेव जुज्जमाणो एत्थ विही होदि णादव्वो ।।2018

पूर्व में जो आराधना की विधि विस्तार पूर्वक कही हैं वही यहाँ भी यथायोग्य जानना।

एवं आसुक्कारमरणे वि सिज्झंति केइ धुदकम्मा।

आराधयित्तु केई देवा वेमाणिया होंति ।।2019

इस प्रकार सहसा मरण होने पर भी कोई-कोई मुनि कर्मों को नाश करके मुक्त होते है और कोई आराधना करके वैमानिक देव होते हैं।

आराघणाए तत्थ दु कालस्स बहुत्तणं ण हु पमाणं।

बहुवो मुहुत्तमत्ता संसारमहण्णवं तिण्णा ।।2020

थोडे ही समय में मोक्ष कैसे हो सकता है ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए; क्योंकि आराधना में काल का बहुत पना प्रमाण नहीं है। बहुत से मुनि एक मुहूर्त मात्र में आराधना करके संसार समुद्र को पार कर गये है।

खणमेत्ते ण अणादियमिच्छादिट्ठी वि वद्धणो राया।

उसहस्स पादमूले संबुज्झित्ता गदो सिद्धिं ।।2021

अनादि मिथ्यादृष्टि भी वर्द्धन नाम का राजा भगवान् ऋषभदेव के पाद मूल में बोध को प्राप्त होकर मोक्ष को गये।

सोलस तित्थयराणं तित्थुप्पण्णस्स पडढमदिवसम्मि।

सामण्णणाणसिद्धी भिण्णमुहुत्तेण संपण्णा ।।2022

भगवान् ऋषभदेव से शान्तिनाथ तीर्थंकर पर्यन्त सोलह तीर्थंकरों के तीर्थ की उत्पत्ति होने के प्रथम दिन ही बहुत से साधु दीक्षा लेकर एक अन्तमुहूर्त में केवलज्ञान को प्राप्त कर मुक्त हुए।

इंगिनी मरण समाधि-मरण-

पव्वज्जाए सुद्धो उवसंपज्जित्तु लिंगकप्प च।

पवयणमोगाहित्ता विणयसमाधीए विहरित्ता ।।2025

जो दीक्षा ग्रहण के योग्य है वह निर्ग्रंथ लिंग धारण करके श्रुत का अभ्यास करे तथा विनय और समाधि में विहार करे। दीक्षा ग्रहण योग्य से अर्हत्ता का कथन किया

है,लिंग की सूचना की है। और श्रुताभ्यास से शिक्षा का ग्रहण किया है। इस प्रकार भक्त प्रत्याख्यान में जो कहा था उसी को यहाँ कहा है।

णिप्पादित्ता सगणं इंगिणिविधिसाधणाए परिणमिया।
सिदिमारुहित्तु भाविय अप्पाणं सल्लिहित्ताणं।।2026

अपने संघ को इंगिणीमरण की विधि साधना में योग्य करके अपने चित्त में यह निश्चय करे कि मैं इंगिणीमरण की साधना करूँ गा। फिर शुभ परिणामों की श्रेणि पर आरोहण करके तप आदि की भावना करे और अपने शरीर और कषायों को कृश करे।

परियाइगमालोचिय अणुजाणित्ता दिसं महजणस्स।
तिविधेण खमावित्ता सवालवुड्ढाउलं गच्छं।।2027
अणुसट्ठिं दादूण य जावज्जीवाय विप्पओगच्छी।
अब्भदिगजादहासो णीदि गणादो गुणसमग्गो।।2028

रत्नत्रय में लगे दोषों की क्रम से आलोचना करे और अपने स्थान पर अन्य आचार्य की स्थापना करके उन्हें सब बतला दे। तथा चतुर्विध वृद्ध मुनियों से भरे अपने गच्छ को शिक्षा देकर जीवन पर्यन्त के लिए संघ से अलग होने की इच्छा करता हुआ प्रसन्न होता है कि मैं कृत्तार्थ हुआ और इस प्रकार वह सम्पूर्ण गुणों से विशिष्ट होकर मुनिसंघ से चला जाता है।

एवं च णिक्कमित्ता अंतो बाहिं व थंडिले जोगे।
पुढवीसिलामए वा अप्पाणं णिज्जवे एक्को।।2029

इस प्रकार संघ से निकलकर गुफा आदि के अन्दर या बाहर जीवरहित तथा समान रूप से ऊँचे कठिन भूमिप्रदेश में पृथ्वी रूप संस्तर पर या शिलामय संस्तर पर एकाकी आश्रय लेता है। अपने शरीर के सिवाय उसका अन्य कोई सहायक नहीं होता है।

पुव्वुत्ताणि तणाणि य जाचित्ता थंडिलम्मि पुव्वुत्ते।
जदणाए संथरित्ता उत्तरसिरमधव पुव्वसिरं।।2030
पाचीणाभिमुहो वा उदीचिहुत्तो व तत्थ सो ठिच्चा।
सीसे कदंजलिपुडो भावेण विसुद्धलेस्सेण।।2031
अरहादि अंतिगं त्तो किच्चा आलोचणं सुपरिसुद्धं।
दंसणणाणचरित्तं परिसारे दूण णिस्सेसं ।।2032

वह गाँव या नगर में जाकर तृणों की याचना करता है जो तृण छिद्र रहित जन्तुरहित, कोमल तथा शरीर की स्थिति के लिए साधना मात्र और प्रतिलेखना के योग्य होने चाहियें उन तृणों को वह उक्त भूमि प्रदेश पर प्रतिलेखना पूर्वक सावधानता से

पृथक्-पृथक् करके फैला देता है। वह भूमिप्रदेश भी प्रकाश सहित, विस्तीर्ण, छिद्र रहित तथा जन्तुरहित होना चाहिये। उस पर संस्तर ऐसा होना चाहिए जिसमें सिर पूर्वदिशा या उत्तर दिशा की ओर रहे। तब सिर से लेकर पैर तक शरीर का सावधानी से परिमार्जन करके पूरब या उत्तर की ओर मुख करके उसे संस्तर पर बैठता हे और हाथों की अंजली बनाकर मस्तक से लगाता है तथा विशुद्ध लेश्या पूर्वक अर्हन्त आदि के सामने अपने दोषों की आलोचना करके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को पूर्ण रूप से निर्मल करता है।

सव्वं आहारविधिं जावज्जीवास वोसरित्ताणं।

वोसरिदूण असेसं अब्भंतरबाहिरे गर्थे।।2033

समस्त प्रकार के आहार के विकल्प को जीवनपर्यन्त के लिए त्याग देता है तथा समस्त अन्यन्तर और बाह्य परिग्रह को त्याग देता है।

सव्वे विणिज्जिणंतो परीषहे धिदिबलेण संजुत्तो।

लेस्साए विरुज्झंतो धम्मं ज्झाणं उवणमित्ता।।2034

धैर्य के बल से युक्त वह क्षपक सब परीषहों को जीतता है और लेश्या विशुद्धि से सम्पन्न हो, धर्मध्यान करता है।

प्रायोगपगमन समाधि-मरण-

इस इंगिणीमरण का विस्तार और संक्षेप से विधिपूर्वक कथन किया। आगे प्रायोपगमन का संक्षेप से कथन करेंगे। ऊपर इंगिणीमरण की जो विस्तार से विधि कही है वही सब विधि प्रायोपगमन मरण की होती है। किन्तु इतना विशेष है कि प्रायोपगमन में तृणों के संथरे का-तृणशय्या का निषेध है। क्योंकि उसमें स्वयं अपने से और दूसरों से भी सब प्रकार का प्रतीकार करना कराना निषिद्ध है। भक्तप्रत्याख्यान में तो अपनी सेवा स्वयं भी कर सकता हे और दूसरों से भी करा सकता है। इगिणी में अपनी सेवा स्वयं कर सकता है, दूसरों से नहीं करा सकता। किन्तु प्रायोपगमन में अपनी सेवा न स्वयं करता है और न दूसरों से कराता है। यही इन तीनों में भेद है। यत: जो अपने शरीर को सम्यक् रूप से कृश करता है अर्थात् अस्थि चर्ममात्र शेष रहता है वही प्रायोपगमन मरण करता है। अत:मल मूत्र के स्वयं या दूसरे के द्वारा त्याग कराने का प्रश्न ही नहीं रहता। यदिकोई उन्हें पृथ्वी, जल, तेज, वनस्पति और त्रस आदि जीवनिकायों में फेंक देता है तो शरीर से ममत्व त्यागकर अपनी आयु के समाप्त होने तक वहीं पडे रहते हैं। यदि कोई उनका अभिषेक करे गन्ध पुष्प आदि से पूजा करे तब भी शरीर से ममत्व त्याग कर न रोष करते है, न प्रसन्न होते हैं और न उसे ऐसा करने से रोकते हैं। शरीरसे ममत्व का त्याग करने वाला वह प्रायोपगमन का धारी क्षपक जिस क्षेत्र में जिस प्रकार से शरीर का कोई अंग

रखा गया हो, उसको वैसा ही पडा रहने देता है, स्वयं अपने अंग को हिलाता डुलाता नहीं है। इस प्रकार अरहंतदेव प्रायोपगमन को स्व और परकृत्त प्रतिकार से रहित कहते है। निश्चय से प्रायोपगमन अचल होता है। किन्तु उपसर्ग अवस्था में मनुष्यादि के द्वारा चलायमान किये जाने पर चल भी होता है अर्थात् स्वयं शरीर को न हिलाने से अचल ही है किन्तु दूसरे के द्वारा हिलाने पर चला होता है।

उपसर्ग अवस्था में एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान में डाल दिये जाने पर यदि वह वहीं मरण करता है तो उसे नीहार कहते हैं, ऐसा नहीं होने पर पूर्व स्थान में ही मरण हो तो अनीहार कहाता है। जिनकी आयु का काल अल्पशेष रहता है वे प्रतिमा योग धारण करके प्रायोपगमन करते है और कुछ दीर्घकाल तक विहार करते हुए इंगिनीमरण करते हैं।

आशाधर जी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया- कुछ तो सल्लेखना न करके ही कायोत्सर्ग पूर्वक प्रायोपगमन करते हैं ओर कोई चिरकाल तक उपवास करके प्रायोपगमन करते हैं । इसी प्रकार इंगिणी भी जानना। अर्थात् उन्होंने दोनों मरणों के दो-दो प्रकार कहे हैं। ऊपर के अर्थ के अनुसार अल्प आयु वाले प्रायोपगमन करते हैं इसी से वे अपने शरीर की सेवा न स्वयं करते हैं न दूसरे से कराते हैं। दीर्घ आयु शेष रहने वाले इंगिनीमरण करते हैं अत: वे अपने शरीर की सेवा स्वयं तो करते हैं दूसरे से नहीं करातें उन्हे स्वयं मलमूत्र का त्याग तो करना होता ही है।

महान् उपसर्ग अथवा भयानक दुर्भिक्ष होने पर परीषहों को सहन करने में समर्थ मुनि अल्प भी मरण के कारण उपस्थित होने पर उत्साह पूर्वक मृत्यु का आलिंगन करते हैं।

(भ.आ. गा.2056-2066)

प्रकरण-5

अन्तरंग सल्लेखना

एवं सरीर सल्लेहणाहिं बहुविहा व फासेंतो।

अज्झवसाणविसुद्धि खणमवि खवओ ण मुचेज्ज ।।258 भ. आ. पृ.260

उक्त क्रम से नाना प्रकार की शरीर सल्लेखना की विधि को करते हुए भी परिणामों की विशुद्ध को क्षपक एक क्षण के लिए भी न छोडे।

भाव विशुद्धि उत्कृष्ट तप से भी श्रेष्ठ

अज्झवसाणविसुद्धीए वज्जिदा जे तवं विगट्ठंपि।

कुव्वंति बहिल्लेस्सा ण होइ सा केवला सुद्धी ।।259

परिणामों की विशुद्धि को छोडकर जो उत्कृष्ट भी तप करते हैं उनकी चित्तवृत्ति पूजा सत्कार आदि में ही लगी होती है। उनके अशुभ कर्म के आस्रव से रहित शुद्धि नहीं होती । अर्थात् दोषों से मिली हुई शुद्धि होती है।

अविगट्ठ पि तवं जो करेइ सुविसुद्धसुक्कलेस्साओ।

अज्झवसाणविसुद्धो सो पावदि केवलं सुद्धि ।।260

जो अतिविशुद्ध शुक्ललेश्या से युक्त और विशुद्ध परिणाम वाला अनुत्कृष्ट भी तप करता है वह केवल शुद्धि को पाता है। यह गाथा का अर्थ है।

अज्झवसाणविसुद्धी कसायकलुसीकदस्स णत्थित्ति।

अज्झवसाणविसुद्धी कसायसल्लेहणा भणिदा ।।261

जिसका चित्त कषाय से दूषित है उसके परिणाम विशुद्ध नहीं होती। इसलिये परिणाम विशुद्ध को कषाय सल्लेखना कहा है।

विशेषार्थ :- जिस मुनि का चित्त क्रोधाग्नि के द्वारा कलुषित है उस मुनि के परिणाम विशुद्ध नहीं हैं। अत: उसके कषाय सल्लेखना नहीं है। कषाय के कृश करने को कषाय सल्लेखना कहते हैं। और कषाय के कृश हुए बिना परिणाम विशुद्ध नहीं होते । अत: परिणाम विशुद्धि के साथ कषाय सल्लेखना का साध्य साधन भाव सम्बन्ध है।

कोधं खमाए माणं च मद्दवेणाज्जवेण मायं च ।

संतोसेण य लोहं जिणह खु चत्तारि वि कषाय ।।262

जो शुभ परिणामों के प्रवाह में बहता है वही चार कषायों की सल्लेखना करता है यह कहकर, सामान्य से चारों कषायों को कृश करने का उपाय उनके प्रतिपक्षी चार प्रकार के परिणाम हैं, यह कहते हैं-

क्रोध को क्षमा से, मान को मार्दव से, माया को आर्जव से और लोभ को सन्तोष से, इस प्रकार चारों कषायों को जीतो।

कोहस्स य माणस्स य मायालोभाण सो ण एदि वसं।
जो ताण कसायाणं उत्पत्ति चेव वज्जेइ ।।263

उन कषायों की उत्पत्ति को ही रोक देता है वह क्रोध, मान, माया, लोभ के वश में नहीं होता।

तं वत्थुं मोत्तव्वं जं पडि उप्पज्जदे कसायग्गि।
तं वत्थुमल्लिएज्जो जत्थोवसमो कसायाणं।।264

उस वस्तु को छोड देना चाहिए जिसको लेकर कषाय रूपी आग उत्पन्न होती है। और उस वस्तु को अपनाना चाहिए जिसके अपनाने से कषायों का उपशमन हो।

जइ कहवि कसायग्गी समुट्ठिदो होज्ज विज्झवेदव्वो।
रागद्दोसुप्पत्ती विज्झादि हु परिहंरतस्स।।265

यदि थोडी भी कषाय रूपी आग उठती हो तो उसे बुझा दे। जो कषाय को दूर करता है उसके राग-द्वेष की उत्पत्ति शान्त हो जाती है। नीच जन की संगति की तरह कषाय हृदय को जलाती है। अशुभ आंगोपांग नामकर्म के उदय से जो मुख विरूप होता है जैसे धूल पडने से आँख लाल हो जाती है वैसे ही क्रोध से मनुष्य काँपने लगता है। जैसे शराबी शराब पीकर जो चाहे बकता है वैसे ही क्रोध में मनुष्य जो चाहे बोल देता। जैसे जिस पर भूत का प्रकोप होता है वह कुछ भी करता है वैसे ही क्रोधी मनुष्य जो चाहे करता है। कषाय समीचीन ज्ञानरूपी दृष्टि को मलिन कर देती है। सम्यग्दर्शन रूपी वन को उजाड देती है। चारित्ररूपी सरोवर को सुखा देती है। तपरूपी पत्रों को जला देती है। अशुभकर्म रूपी बेल की जड जमा देती है। शुभकर्म फल को रसहीन कर देती है। अच्छे मन को मलिन करती है। हृदय को कठोर बनाती है। प्राणियों का घात करती है। वाणी को असत्य की ओर ले जाती है। महान् गुणों का भी निरादर करती है। यशरूपी धन को नष्ट करती है। दूसरों को दोष लगाती है। महापुरुषों के भी गुणों को ढाँकती है, मित्रता की जड खोदती है। किये हुए भी उपकार को भूलाती है। महान् नरक के गढे में गिराती है। दु:खों के भँवर में फँसाती है। इस प्रकार कषाय अनर्थ करती है। ऐसी भावना से कषाय को शान्त करना चाहिए।

जावंति केइ संगा उदीरया होंति रागदोसाणं।
ते वज्जंतो जिणदि हु रागं दोसं च णिस्संगो।266

जितने भी परिग्रह रागद्वेष को उत्पन्न करते हैं, उन परिग्रहों को छोडने वाला अपरिग्रही साधु राग और द्वेष को निश्चय से जीतता है।

पडियोदणासहणासहणवायखुभिदयडिबयणइंणाइद्धो।
चंडो हु कसायग्गी सहसा संयज्जलेज्जहि।।267

इस प्रकार कषाय रूपी अग्नि का उदय होता है और वह इस प्रकार अपकार करती है, तथा इस प्रकार से उसे शान्त करना चाहिए, यह तीन गाथाओं से कहते हैं-

शिष्य की अयोग्य प्रवृत्ति को रोकने के लिए गुरु के द्वारा शिक्षा दिये जाने पर शिष्य ने जो प्रतिकूल वचन कहे वह गुरु को सहन नहीं हुए। बही हुई वायु। उस वायु से गुरु के मन में आग भडक उठी। उसके पश्चात् गुरु ने शिष्य को पुन: समझाया तो शिष्य ने पुन: प्रतिकूल वचन कहे। उसने गुरु की क्रोधाग्नि में ईधन का काम किया तो आग भडक उठी। अथवा गुरु ने शिष्य को शिक्षा दी। शिष्य उससे क्रुद्ध हुआ। शिष्य की क्रोध रूपी वायु से क्षुब्ध होकर गुरु ने पुन: उसे शिक्षा दी। उस शिक्षाने शिष्य की क्रोधाग्नि को भडकाने में ईधन का काम किया। ऐसे भयानक कषायाग्नि सहसा भडकती है।

जलिदो हु कसायग्गी चरित्तसारं डहेज्ज कसिणं पि।
सम्पत्तं पि विराधिय अणंतसंसारियं कुज्जा।।268

जलती हुई कषाय रूप आग समस्त चारित्र नामक सार को जला देती है। सम्यक्त्व को भी नष्ट करके अनन्त संसार के परिभ्रमण में लगा देती है।

तम्हा हु कसायग्गी पावं उप्पज्जमाणयं चेव।
इच्छामिच्छादुक्कडवंदणसलिलेण विज्झाहि।।269

इसलिए पाप रूप कषायग्नि को उत्पन्न होते ही बुझा देना चाहिए। उसको बुझाने का जल है- मैं भगवान् जिनेन्द्रदेव की शिक्षा की इच्छा करता हूँ। मेरा खोटा कर्म मिथ्या हो, मैं नमस्कार करता हूँ।

जह चेव णोकसाया सल्लिहियव्वा परेणुवसमेण।
सण्णाओ गारवाणि य तह लेस्साओ य असुहाओ।।270

इसी तरह उत्कृष्ट उपशमभाव के द्वारा नोकषाय, संज्ञा, गौरव और अशुभ लेश्याओं को घटाना चाहिए। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद इन्हें नोकषाय कहते हैं। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह की चाह का नाम संज्ञा है। ऋद्धि की तीव्र अभिलाषा, रस और सुख की चाह को गारव कहते हैं।

परिवड्ढिदोवधाणो विगडसिराण्हारुपासुलिकडाहो।
सल्लिहिदतणुसरीरो अज्झप्परदो हवदि णिच्चं।।271

जो प्रतिदिन अपने नियमों को बढाता है, जिनकी बडी और छोटी सिरायें, दोनों ओर की हड्डियाँ और नेत्रों की हड्डियाँ स्पष्ट दिखाई देती हैं -शरीर को सम्यक् रूप से कृश करने वाला वह यति नित्य आत्मा में लीन रहता है।

एवं कदयपरियम्मो सब्भंतरबाहिरम्मि सल्लिहणे।
संसार मोक्खबुद्धी सव्वुवरिल्लं तवं कुणदि।।272

उक्त क्रम के अनुसार अभ्यास करने वाले अभ्यन्तर सल्लेखना सहित बाह्य सल्लेखना करने पर संसार के त्याग का दृढ निश्चय करके सब तपों से उत्कृष्ट तप करता है।

क्षमा याचना-

खामेदि तुम्ह खवओत्ति कुंचओ तस्स चेव खवगस्स। दावेदव्वो णेदूण सव्वसंघस्स वसधीसु ॥704

यह क्षपक आप सबसे क्षमा माँगता है। इसके प्रमाण के लिए आचार्य उस क्षपक की पिच्छीका लेकर सर्वसंघ की वसतिका में दिखलाते हैं। अर्थात् क्षपक सबके पास क्षमा माँगने स्वयं नहीं जा सकता, इसलिए उसकी पिच्छी सर्वत्र ले जाकर दिखलाते हैं कि वह आप सबसे क्षमा माँगता है।

आराधणपत्तीयं खवयस्स व णिरुवसग्गपत्तीयं। काओसग्गो संघेण होइ सव्वेण कादव्वो॥ 705

क्षपक के रत्नत्रय की आराधना पूर्ण हो और उसमें कोई विघ्न न आवे, इसके लिए सर्व संघ को कायोत्सर्ग करना चाहिए।

प्रकरण-6
समाधि के लिए योग्य वसतिका

उग्गमउप्पादणएसणा विसुद्धाए अकिरियाए हु।
वसइ असंसत्ताए णिप्पाहुडियाए सेज्जाए।।635

जो वसति उद्गम उत्पादन और एषणा दोष से रहित होती है, अपने उद्देश्य से जिसमें लिपाई-पुताई आदि नहीं आने वाले प्राणी आकर वास नहीं करते तथा जो संस्कार रहित वसति में साधु निवास करते हैं। कराई गई है जिसमें उसी वसतिका में रहने वाले तथा बाहर से रहित, जंतुरहित, क्षपक के शरीर प्रमाण हो, गीलि न हो, मजबूत और गुप्त हो प्रकाश सहित वही भूमि संस्तर योग्य है।

सुहणिक्खवणपवेसणघणाओ अवियड अणंधयाराओ।
दो तिण्णि वि वसधीओ घेत्तव्वाओ विसालावो।।636

जिसमें बिना कष्ट के सुख पूर्वक प्रवेश और निर्गमन होता हो, जिसका द्वार खुला न हो तथा जिसमें अंधकार न हो; ऐसी 2 अथवा 3 विशाल वसतिका ग्रहण करनी चाहिए। जघन्य से दो वसतिका लेना चाहिए। एक में क्षपक रहता है। दूसरी में अन्य यतिऔर धर्म सुनने के लिये आये बाहर के आदमी रहते हैं (यदि तीन ग्रहण करते हैं तो एक क्षपक, एक में अन्य यति और एक में धर्मोपदेश होता है) यदि वसतिका द्वार खुला हो तो शीतवायु आदि के प्रवेश से हाडचाम मात्र शेष रहे क्षपक को दु:सह दु:ख होता है। खुले स्थान में वह मलमूत्र का त्याग भी कैसे करेगा? अंधेरी वसतिका में असंयम होगा। जीवजंतु दृष्टिगोचर नहीं होंगे। सुखपूर्वक आना जाना संभव न होने से अपनी भी विराधना होती है और संयम की भी विराधना होती है।

घणकुड्डे सकवाडे गामबहिं बालवुद्दणजोग्गे।
उज्जाणघरे गिरिकंदरे गुहाए व सुण्णहरे।।637

जिसकी दीवार मजबूत हो, कपाट सहित हो, गाँव के बाहर ऐसे प्रदेश में हो जहाँ बच्चे बूढे और चार प्रकार का संघ जा सकता हो, ऐसी वसति में, उद्यानघर में, गुफा में अथवा शून्य घर में क्षपक का संथारा होता है।

आगंतु घरादीसु वि कडएहिं य चिलिमिलीहिं कायव्वो।
खवयस्सोच्छादागारो धम्मसवणमंडवादी य ।।638

सेना के पडाव के साथ आये हुए व्यापारियों के द्वारा बनाये गये घरों में और आदि शब्द से इस प्रकार के श्रमणों के योग्य उद्यानगृह आदि में क्षपक का संथारा करना चाहिए। उक्त प्रकार की वसतियों के न मिलने पर क्षपक के रहने के लिए बाँस के पत्तों

से आच्छादित और प्रकाश के लिए झीरी सहित घर बना देना चाहिए। तथा धर्म के सुनने के लिए मण्डप आदि भी बना देना चाहिए। इससे बहुत असंयम में निमित्त वसतिका त्याग और संयम में साधन वसतिका निर्माण कहा-

पुढवी सिलामओ वा फलयमओ तणमओ य संथारो।
होदि समाधिणिमित्तं उत्तर सिर अह व पुव्वसिरो।।639

इस प्रकार की वसति में इस प्रकार का संस्तर होना चाहिए, यह कहते हैं- समाधि के निमित्त संथारा पृथ्विमय, या शिलामय या फलकमय-लकडी का अथवा तृणों का होता है उसका सिर उत्तर की ओर अथवा पूरब की और होना चाहिए क्योंकि लोक में मांगलिक कार्यों में पुरब दिशा अच्छी मानी जाती है उसी प्रकार में सूर्य का उदय होता है। अथवा उत्तर दिशा में विदेह क्षेत्र में स्थित तीर्थंकरों के प्रति भक्ति प्रदर्शित करने के उद्देश्य से उत्तर दिशा भी शुभ मानी जाती है।

अघसे समे असुसिरे अहिसुयअविले य अप्पपाणे य।
असिणिद्धे घगगुत्ते उज्जोवे भूमिसंथारो।।640

जो भूमि कठोर हो, ऊँची-नीची न हो, सम हो, छिद्र रहित हो, चींटी आदि से रहित हो।जन्तु रहित, क्षपक के शरीर प्रमाण हो, गीलि न हो, मजबुत और गुप्त हो प्रकाश सहित वही भूमि संस्तर योग्य है।

विद्धत्थो य अफुडिदो णिक्कंपां सव्वदो अससत्तो।
समपट्टो उज्जोवे सिलामओ होदि संथारो।।641

शिलामय संस्तर आग से, कूटने से अथवा घिसने से , प्रासुक हुआ हो, टूटा-फूटा न हो, निश्चल हो, सब ओर से जीव रहित हो, अर्थात् पत्थर में रहने वाले खटमल आदि से रहित हो, समतल हो, ऊँचा नीचा न हो, प्रकाशयुक्त हो, ऐसा शिलामय संस्तर होता है।

भूमिसमरुंदलहुओ अकुक्कुचोकंग अप्पमाणो य ।
अच्छिद्दो य अफुडिदो लण्हो वि य फलयसंथारो।।342

फलकसंस्तर सब ओर से भूति से लगा हो, विस्तीर्ण हो, हलका हो, उठाने लाने जाने में सुकर हो अचत हो-शब्द न करता हो, एकरूप हो, जंतुरहित हो, छिद्र रहित हो, टूटा-फूटा न हो, चिकना हो, ऐसा फलक संस्तर होता है।

णिस्संधी य अपोल्लो णिरुवहदो समधिवास्सणिज्जंतु।
सुहपडिलेहो मउओ तणसंथारो हवे चरिमो।।643

तृणसंस्तर गाँठ रहित, तृणों से बना हो, तृणों के मध्य में छिद्र न हो, टूटे तृण न लगे हो, मृदुस्पर्शनवाला हो जंतु रहित हो, सुखपूर्वक शुद्धि करने के योग्य हो, और

कोमल हो ऐसा अंतिम तृणसंस्तर होता है।

जुत्तो पमाणरइओ उभयकालपडिलेहणासुद्धो।
विधिविहिदो संथारो आरोहव्वो तिगुत्तेण।।644

इस प्रकार संस्तर योग्य हो, प्रमाण युक्त हो- न बहुत छोटा हो और न बहुत बडा हो, दोनों समय अर्थात् सूर्योदय और सूर्यस्ति के समय प्रतिलेखना द्वारा शुद्ध किया गया हो, और शास्त्र में निर्दिष्ट क्रम के अनुसार बनाया गया हो। ऐसे संस्तर पर अशुभ मन-वचन-काय का निरोध करके क्षपक को आरोहण करना चाहिए।

णिसिदित्ता अप्पाणं सव्वगुणसमण्णिदंमि णिज्जवए।
संथारम्मि णिसण्णो विहरदि सल्लेहणाविधिणा।।645

सर्वगुणों से सम्पन्न निर्यापकाचार्य पर अपने को समर्पित करके क्षपक संस्तर पर आरोहण करता है और सल्लेखना की विधि से विचरता है। सल्लेखना के दो प्रकार है- बाह्य और अभ्यन्तर। अथवा द्रव्य सल्लेखना और भाव सल्लेखना। आहार को त्यागकर शरीर की सल्लेखना करता है और सम्यग्दर्शनादि भावों से मिथ्यात्वादि परिणाम को कृश करता है।

प्रकरण-7

निर्यापकाचार्य-द्वारा क्षपक की सेवा

पियधम्मा दठधम्मा संविग्गा वज्जभीरुणोधीरो।

छंदण्हू पच्चइया पच्चक्खाणम्मि य विदण्हू।।646

जिन्हें धर्म प्रिय है, जो धर्म में स्थिर है, संसार से भीरु हैं, पाप से डरते हैं, धैर्यवान हैं, अभिप्राय को जानते हैं, विश्वास के योग्य है प्रत्याख्यान के क्रम को जानते हैं ऐसे यति निर्यापक होते हैं।

कप्पाकप्पे कुसला समाधिकरणुज्जुदा सुदरहस्सा।

गीदत्था भयवंतो अडदालीस तु णिज्जवया।।647

जो यह योग्य है और यह अयोग्य है इस प्रकार भोजन और पान की परीक्षा में कुशल होते हैं, क्षपक के चित्त का समाधान करने में तत्पर रहते हैं, जिन्होंने प्रायश्चित ग्रन्थों को सुना है, जो सूत्र के अर्थ को हृदय से स्वीकार लिये हैं, अपने ओर दूसरों के उद्धार करने के माहात्म्य से शोभित हैं ऐसे अडतालीस निर्यापक यति होते हैं।

आमासणपरिमासणचंकमणसयण-णिसीदणे ठाणे।

उव्वत्तणपरियत्तणपसारणा-उंटणादीसु ।।648

क्षपक के शरीर के एक देश के स्पर्शन करने को आमर्शन कहते हैं। और समस्त शरीर का हस्त से स्पर्शन करने को परिमर्शन कहते हैं। इधर-उधर जाने को चंक्रमण कहते हैं। अर्थात् परिचारक मुनि क्षपक के शरीर को अपने हाथ से सहलाते हैं, दबाते हैं चलने-फिरने में सहायता करते हैं। सोने, बैठने, उठने में सहायता करते हैं। उद्वर्तन अर्थात् एक करवट से दूसरी करवट लिटाते हैं। हाथ-पैर फैलाने मे संकोच ने में सहायता करते हैं।

संजदकमेण खवयस्स देहकिरियासु णिच्चमाउत्ता।

चदुरो समाधिकामा ओलग्गंता पडिचरति।।649

चार परिचारक यति मुनिमार्ग के अनुसार क्षपक की ऊपर कही शारीरिक क्रियाओं में प्रतिदिन लगे रहते हैं। वे क्षपक की समाधि को करते हुए उपासना पूर्वक परिचर्या करते हैं।

भत्तित्थिरायजणवदकंदप्पत्थणडणट्टियकहाओ ।

वज्जित्ता विकहाओ अज्झप्पविराधणकरीओ।।650

जो भोगा या सेवन किया जाता है वह भक्त है अर्थात् चार प्रकार का आहार की कथा, स्त्री की कथा, राजा की कथा, देशों की कथा। राग के उद्रेक से हँसी से मिश्रित अशिष्ट वचन बोलने कन्दर्प है। उसकी कथा, नोटंकी और नाचनेवालियों की

कथा विकथा हैं। ये अध्यात्म की विराधना करती हैं। जो आत्म से सम्बद्ध हो उसे आध्यात्मिक कहते हैं आत्मतत्व के यथार्थ कथन को अध्यात्म कहते हैं। ये कथाएँ उसका विघात करती है।

अखलिदमभिडिदमण्वाइट्ठमणुच्चमविलंबिदममंदं।
कंतममिच्छामेलिदमणत्थहीणं अपुणरूत्तं।।651

वे मुनि अस्खलित धर्म कथा कहते हैं। कुछ का कुछ शब्द बोलना शब्दस्खलन है। विपरीत अर्थ करना अर्थ स्खलन है। इस स्खलन से रहित कथा कहते हैं। एक बात को दुहराते नहीं। सन्देह में डालने वाला कथन नहीं करते। प्रत्यक्ष आदि से विरूद्ध कथन करते हैं। बहुत जोर से नहीं बोलते। न बहुत रुक-रुककर बोलते हैं। बहुत मन्द आवाज से भी नहीं बोलते। कानों को प्रिय वचन बोलते हैं बहुत मन्द अवाज से भी नहीं बोलते। कानों को प्रिय वचन बोलते हैं। मिथ्यात्व की बात नहीं करते । ऐसी बात नहीं कहते जिसका कुछ अर्थ ही न हो। जो बात हो उसे ही पुन: कहना पुनरुक्त है। वे पुनरुक्त कथन करते हैं।

णिद्धं मधुरं हिदयंगमं च पल्हदणिज्जपत्थं च।
चत्तारि जणा धम्मं कहति णिच्चं विचित्तकहा।।652

नाना कथाओ में कुशल वे चार परिचारक यति प्रिय, मधुर अर्थात् ललितपद और वर्णवाली, श्रोता के हृदय में प्रवेश करने वाली सुखदायक हितकारी कथा निरन्तर कहते हैं।

चत्तारि जणा भत्तं उव कप्पेंति अगिलाए पाओग्गं।
इंदियमवगददोसं अमोइणो लद्धिसंपण्णा।।661

चार परिचारक यति उस क्षपक के लिए उसको इष्ट खान-पान बिना ग्लानि के लाते हैं। उन्हें ऐसा संक्लेश नहीं होता कि कब तक हम इसके लिए लावें। तथा खान-पान उद्गम आदि दोषों से रहित होता है। और वात पित्त कफ को उत्पन्न करने वाला नहीं होता। क्षपक भी लिप्सावश आहार पसंद नहीं करता। किन्तु भूख और प्यास परीषह को शांत करने में समर्थ खान-पान की इच्छा करता है। जो यति आहार लाते हैं वे मायावी नहीं होते अयोग्य आहार को योग्य नहीं करते। मायावी अयोग्य को योग्य कह सकता है। तथा वे मोह और अन्तरायकर्मों का क्षयोपशम होने से भिक्षा लब्धि से युक्त होते हैं, उन्हें भिक्षा अवश्य मिल जाती है अलब्धिमान मुनि भिक्षा न मिलने पर खाली हाथ लौटकर क्षपक को कष्ट पहुँचाता है।

चत्तारि जणा पाणय मुवकप्पंति अगिलाए पाओग्गं।
इदियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा।।662

चार परिचारक मुनि क्षपक के लिए बिना ग्लानी के उद्गम आदि दोषों से रहित, वात, पित्त, कप को पैदा न करने वाला तथा क्षपक की प्यास परिषह को शान्त करने वाला पानक लाते हैं। वे लाने वाले यति मायारहित और भिक्षालब्धि से संपन्न होते हैं। आचार्य की अनुज्ञा से स्वयं अपने को उपस्थित करने वाले दो-दो परिचारक भोजन और पान अलग-अलग लाते हैं।

चत्तारि जणा रक्खन्ति दवियमुवकप्पियं तयं तेहिं।
अगिलाए अप्पमत्ता खववयस्स समाधिमिच्छंति।।663

चार यति उन यतियों के द्वारा लाये गये खानपान की बिना किसी प्रकार की ग्लानी से रहित होकर रक्षा करते हैं कि उसमें त्रसादि न गिरे अथवा कोई उसमें त्रसादि जंतु न गिरा दे। वे सब क्षपक की समाधि के इच्छुक होते हैं कि उसकी समाधि निर्विघ्न पूर्ण हो।

काइयमादी सव्वं चत्तारिपदि ट्ठवान्ति खववयस्स।
पडिलेहंति य उवधोकाले सेज्जुवधिसंथारं।।664

चार मुनि क्षपक के सब मलमूत्र उठाने का कार्य करते है। और सूर्य के उदय तथा अस्त होने के समय वसति, उपकर और संथरे की प्रतिलेखना करते हैं।

खवगस्स घरदुवारं सारक्खंति जदणाए दु चत्तारि।
चत्तारि समोसरण दुवारं रक्खंति जदणाए।।665

चार यति सावधानता पूर्वक क्षपक के घर के द्वार की रक्षा करते हैं। ऐसा वे असंयमी जनों और शिक्षकों को अन्दर प्रवेश करने से रोकने के लिए करते हैं। चार मुनि सावधानता-पूर्वक समवसरण द्वारा अर्थात् धर्मोपदेश करने के घर के द्वार की रक्षा करते हैं।

जिदणिद्दा तल्लिच्छा रादो जग्गंति तह य चत्तारि।
चत्तारि गवेसति खु खेत्ते देसप्पवत्तीओ।।666

निद्रा को जीत लेने वाले और निन्द्रा को जीतने के इच्छुक चार यति रात में क्षपक के पास जगते हैं। और चार मुनि अपने रहने के क्षेत्र में देश की अच्छी प्रवृत्तियों की परीक्षा करते हैं अर्थात् जिस क्षेत्र में क्षपक समाधि मरण करता है उस देश के अच्छे बुरे समाचारों की खबर रखकर उनकी परीक्षा करते हैं कि समाधि में कोई बाधा आने का तो खतरा नहीं है।

वाहिं असद्दवडियं कहंति चउरो चदुव्विध कहाओ।
ससमयपरसमयविदू परिसाए समोसदाए।।667

क्षपक के आवास के बाहर स्वसिद्धान्त और पर सिद्धान्त के ज्ञाता चार यति

क्रम से एक-एक करके सभा में धर्म सुनने के लिए आये हुए श्रोताओं को पूर्ववर्णित चार कथाएँ इस प्रकार कहते हैं कि दूरवर्ती मनुष्य उनका शब्द न सुन सके। अर्थात् क्षपक को सुनाई न दे इतने धीरे से बोलते है उससे क्षपक को किसी प्रकार की बाधा नहीं होती।

वादि चत्तारि जणा सीहाणुग तह अणेयसत्थविद्।
धम्मकहयाण रक्खाहेदुं विहरंति परिसाए।।668

अनेक शास्त्रों के ज्ञाता और बाद करने में कुशल चार मुनि धर्मकथा करने वालों की रक्षा के लिए सभा में सिंह के समान विचरते हैं। अर्थात् धर्मकथा में कोई विवाद खडा कर दे तो वाद करने में कुशल मुनि उसका उत्तर देने के लिए तत्पर रहते हैं।

एवं महाणुभावा पग्गहिदाए समाधिजदणाए
तं णिज्जवंति खवयं अडयालीसं हि णिज्जवया।।669

इस प्रकार महात्म्यशाली ४८ निर्यापक यति क्षपक की समाधि में उत्कृष्ट प्रयत्नशील रहते हुए उस क्षपक को संसार समुद्र से निकलने के लिए प्रेरित करते हैं।

जो जारिसओ कालो भरदेरवदेसु होई वासेसु।
ते तारिसया तदिया चौद्दालीसं पि णिज्जवया।।670

पाँच भरत और पाँच ऐरावत क्षेत्रों में जब जैसा काल हो तब उसी काल के अनुकूल गुणवाले 44 निर्यापक स्थापित करना चाहिए।

एवं चदुरो चदुरो परिहावेदव्वगा य जदणाए।
कालम्मि संकिलिट्ठंमि जाव चत्तारि साधेंति।।671
णिज्जावया य दोण्णि वि होंति जहण्णेण काल संसयणा।
एक्को णिज्जावयओ ण होई कइया वि जिणसुत्तो।।672

इस प्रकार ज्यों- ज्यों काल खराब होते जाये त्यो-त्यों देशकाल के अनुसार सावधानता पूर्वक 44 निर्यापक कम करते जाना चाहिए। अंत में 4 निर्यापक भी समाधिमरण को संपन्न करते हैं। अधिक काल खराब होने पर कम से कम-2 निर्यापक भी होते हैं। किन्तु जिनागम में किसी भी अवस्था में एक निर्यापक नहीं कहा।

प्रकरण-8

क्षपक का सारण (पेय)

अकडुगमतित्तयमणंविलंच अकसायमलवणममधुरं।

अविरस मदुरभिगंधं अच्छमणुण्हं अणदिसीदं ।। (पृ. 694)

क्षपक को दिया जाने वाला पानक कटुक, चरपरा, खट्टा, कसैला, नमकवाला, मीठा, स्वादयुक्त और दुर्गन्ध युक्त नहीं होना चाहिये अर्थात् वह न कटुक हो, न चरपरा हो, न खट्टा हो, न कसैला हो, न नमक से युक्त हो, न मीठा हो, तथा स्वादहीन और दुर्गन्धयुक्त भी न हो। स्वच्छ हो , न गर्म हो और न ठंडा हो।

पाणगमसिभलं परिपूयं खीणस्स तस्स दादव्वं।

जह वा पच्छं खवयस्स तस्स तह होई दायव्वं।। 1486 भ. आ.

कफ पैदा करने वाला न हो, कपडे से छान लिया गया हो, इस प्रकार कमजोर क्षपक को ऐसा पेय देना चाहिये जो उसके लिये पथ्य हो, अर्थात् समाधि में विघ्न डालने वाला न हो।

संथारत्थो खवओ जइया खीणो हवेज्ज तो तइया।

वोसरिदव्वो पुव्वविधिणेव सोपाणगाहारो ।।1487

जब संस्तरारूढ क्षपक अतिक्षीण हो जाये तब पूर्व विधि से पानक का त्याग करा देना चाहिये।

क्षपक की चिकित्सा: शारीरिक एवं आध्यात्मिक

एवं संथारगदस्स कम्मोदएण खवयस्स।

अंगे कत्थइ उट्ठिज्ज वेयणा ज्झाणविग्घयरी।।1488

इस प्रकार संस्तरारूढ क्षपक के कर्म के उदय से किसी अंग में ध्यान में विघ्न डालने वाली वेदना यदि उत्पन्न हो जाये।

बहुगुणसहस्सभरिया जदि णावा जम्मसायरे भीमे।

भिज्जदि हु रयणभरियाणावा व समुद्दमज्झम्मि।।1489

समुद्र के मध्य में रत्नों से भरी नाव की तरह हजारों गुणों से भरी यति रुपी नौका यदि भयंकर संसार सागर में डूबने लगे।

गुणभरिदं जदिणावं दट्ठूण भवोदधिम्मि भिज्जंतं।

कुणमाणो हु उवकक्ख को अण्णो हुज्ज णिद्धम्मो।।1490

गुणों से भरी नाव को संसार-समुद्र में डूबते हुए देखकर यदि कोई उपेक्षा करता है तो उससे बडा अधार्मिक दूसरा कौन होगा।

विज्जावच्चस्स गुणा जे पुव्वं वित्थरेण अक्खादा।

तेसिं फिडिओ सो होइ जो उविक्खिज्ज तं खवयं।।1491

जो क्षपक की उपेक्षा करता है वह पूर्व में जो वैयावृत्य के गुण विस्तार से कहै हैं उनसे च्युत होता है।

तो तस्य तिगिंछाजाणएण खवयस्य सव्वसतीए।

विज्जादेसेद व से पडिक्म्मं होइ कायव्वं।।1492

अत: उस क्षपक के रोग की चिकित्सा जानने वाले निर्यापकाचार्य को स्वयं अथवा वैद्य के परामर्श से सर्व शक्ति के साथ इलाज करना चाहिए।

णाऊण विकारं वेदणाए तिस्से करेज्ज पडियारं।

फासुगदव्वेहिं करेज्ज वायकफपित्तपडिघादं।।1493

उस क्षपक की वेदना के विकार को जानकर प्रासुक द्रव्यों से वात, पित्त और कफ को रोकने वाला प्रतिकार करना चाहिए।

बच्छीहिं अवद्दवणतावणेहिं आलेवसीदकिरियाहिं।

अब्भंगणपरिमद्दण आदीहिं तिगिंछदे खवयं।।1494

वस्तिकर्म (एनिमा) गर्म लोहे से दागना, पसीना लाना, लेप लगाना, प्रासुक जल का सेवन कराना, मालिस, अंगमर्दन आदि के द्वारा क्षपक की वेदना दूर करना चाहिए।

एवं पि कीरमाणो परियम्मे वेदणा उवसमो सो।

खवयस्य पावकम्मोदएण तिव्वेण हुण होज्ज।।1495

इस प्रकार प्रतीकार करने पर तीव्र पाप कर्म के उदय से यदि क्षपक की वेदना शान्त न हो। क्योंकि केवल 'बाह्य' द्रव्य के प्रभाव से ही कर्म अपना फल न दें, ऐसी बात नहीं है। वही बाह्य द्रव्य एक की वेदना शान्त करता है दूसरे की नहीं करता । यह तो अनुभव सिद्ध है।

अहवा तण्हादिपरीसहेहिं खवओ हविज्ज अभिभूदो।

उवसग्गेहिं व खवओ अचेदणो होज्ज अभिभूदो।।496

अथवा क्षपक प्यास आदि की वेदना से अभिभूत हो जाय या उपसर्गों से पीडित होकर मूर्छित हो जाये।

तो वेदणावसट्टो वाउलिदो वा परीसहादीहिं।

खवओ अणप्पवसिओ सो विप्पलवेज्ज जं किं पि।।1497

या वेदना से पीडित और परीषह उपसर्गों से व्याकुल होकर क्षपक अपने वश में न रहे और जो कुछ भी बकने लगे।

उब्भासेज्ज व गुणसेढीदो उदरणबुद्धिओ खवओ।
छट्ठं दोच्चं पढमं व सिया कुटिलिदपदमिछंतो।।1498

अयोग्य वचन कहे, या संयमगुण की सीढी से नीचे उतरना चाहे, या निचले स्थान को चाहते हुए रात्रि भोजन या रात्रि में पानक लेना चाहे या दिन में असमय में भोजन करना चाहे।

तह मुज्झंतो खवगो सारेदव्वो य से तओ गणिणा।
जह से विसुद्धलेस्सो पच्चागदचेदणो होज्ज।।1499

इस प्रकार जब क्षपक मोह में पड जाये तो आचार्य को उसे सब पिछली बातों का स्मरण कराना चाहिये। जिससे उसके परिणाम विशुद्ध हो और उसका यथार्थ ज्ञान लौट आवे।

कोसि तुमं किं णामो कत्थ वससि को व संपही कालो।
किं कुणसि तुमं कह वा अत्थसि किं णामगो वाहं।।1500

तुम कौन हो? तुम्हारा क्या नाम है? कहाँ रहते हो? इस समय दिन है या रात है? तुम क्या करते हो ? कहाँ बैठे हो ? मेरा क्या नाम है।

एवं आउच्छित्ता परिक्खहेदुं गणी तयं खववयं।
सारइ वच्छलयाए तस्स य कवयं करिस्संति।।1501

इस प्रकार आचार्य उसकी परीक्षा के लिए कि यह सचेत अवस्था में है या अचेत अवस्था में है, वात्सल्य भाव से बार-बार उसे स्मरण कराते हैं। उनकी यह भावना रहती है कि यदि यह सचेत है तो उसके संयम की रक्षा की जाये।

जो पुण एवं ण करिज्ज सारणं तस्स वियलचक्खुस्स।
सो तेण होइ णिद्धंधसेण खवओ परिचत्तो।।1502

यदि आचार्य उस चलायमान चित्त वाले क्षपक को इस प्रकार से स्मरण नहीं करावे तो समझना चाहिये उस निर्दयी ने उस क्षपक को त्याग दिया है।

एवं सारिज्जंतो कोई कम्मुवसमेण लभदि सदिं।
तह य ण लब्भिज्ज सदिं कोई कम्मे उदिण्णम्मि।।1503

इस प्रकार स्मरण दिलाने पर कोई-कोई क्षपक चारित्र मोह अथवा असातावेदनीय का उपशम होने से अयोग्य के विचार विषयक स्मृति को प्राप्त होते हैं कि अकाल में खाने पीने की इच्छा करना मेरे लिए योग्य नहीं है। जो मैं त्याग कर चुका उसे काल में भी कैसे ग्रहण करूँ? आदि, किन्तु कोई नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरण कर्म की उदीरणा होने पर स्मृति प्राप्त नहीं करते ।

सदिमलभंतस्स वि कादव्वं पडिकम्ममट्ठियं गणिणा।
उवदेसो वि सया से अणुलोमो होदि कायव्वो।।1504

स्मृति को जो प्राप्त नहीं होता, उसके प्रति भी आचार्य को निरन्तर प्रतिकार करते रहना चाहिये। तथा उसके अनुकुल उपदेश भी करते रहना चाहिये।

अयोग्य के साथ भी अयोग्य व्यवहार अनुचित

चेयंतो पि य कम्मोदयेण कोई परीसहपरद्धो।
उब्भासेज्ज व उक्कावेज्ज व भिंदेज्ज आउरो पदिण्णं।।1505
ण हु सो कडुवं फरूसं व भणिदव्वो ण खीसिदव्वो य ।
ण य वित्तासेदव्वो ण य वदृदि हीलणं कादुं।।1506

कोई क्षपक चेतना को प्राप्त करके भी कर्म के उदय से परीषहों से हारकर यदि अयोग्य वचन बोले,या रुदन करे या अपनी व्रत प्रतिज्ञा को भंग करे तो भी उसके प्रति कटुक वचन बोलना उचित नहीं है, न उसका तिरस्कार करना चाहिये, न उसका हास्य करना चाहिये, न उसे त्रास देना चाहिये और न उसका अनादर करना चाहिये।

फरूसवयणादिगेहिं दु माणी विप्फुरिओ तओ संतो।
उद्धाणमवक्कमणं कुज्जा असमाधिकरणं वा ।।1507

कठोर वचन आदि से भडककर वह अभिमानी क्षपक संयम से च्युत हो सकता है या दुर्ध्यान में लग सकता है अथवा सम्यक्त्व को त्याग सकता है।

तस्स पदिण्णामेरं भित्तुं इच्छंत्तयस्स णिज्जवओ।
सव्वायरेण कवयं परीसहणिवारणं कुज्जा।।१५०८

यदि वह अपनी प्रतिज्ञा रूपी मर्यादा को तोडना चाहे तो निर्यापकाचार्य उसकी रक्षा के लिए ऐसा कवच आदर पूर्वक करे जो परीषहों का निवारण कर सके।

णिद्धं मधुरं पल्हादणिज्ज हिदयंगमं अतुरिदं वा।
तो सीहावेदव्वो सो खवओ पण्णवंतेण।।1509

आचार्य को स्नेह सहित, कानों को प्रिय, हृदय में सुख देने वाले तथा हृदय में प्रवेश करने वाले वचनों से क्षपक को धीरे-धीरे सम्बोधना चाहिये।

रोगादंके सुविहिद विउलं वा धिदिबलेण।
तमदीणमसंमूढो जिण पच्चूहे चरित्तस्स।।1510

हे सुन्दर आचार वाले। तुम दीनता और मूढता को त्यागकर चारित्र में बाधा डालने वाली छोटी या बडी व्याधियों को महती वेदना को धैर्यरूपी बल से जीतो। **राग**

और कोप का त्याग ही चरित्र है। व्याधि को दूर करने के उपायों में आदर करने वाले तथा व्याधि और वेदना से द्वेष करने वाला का चारित्र नष्ट होता है। अत: तुम्हे चारित्र के विघ्नों को जीतना चाहिये।

सव्वे वि य उवसग्गे परिसहे य तिविहेण णिज्जिणहि तुमं।
णिज्जिणिय सम्ममेदे होहिसु आराहओ मरणे।।1511

हे क्षपक ! तुम सब उपसर्गों और परीषहों को मन-वचन-काय से जीतो। उपसर्ग और परीषहों के जीतने में जो दु:ख होता है उससे न डरना मन से जीतना है। यह डरपोक है अत: दया करके उपसर्ग परीषह उसे दु:ख नहीं देंगे ऐसी बात नहीं है। द्रव्यादि सहकारी कारणों के रहने पर असातावेदनीय कर्म उदय में आता है और उसकी शक्ति को रोकना शक्य नहीं होता तब वह कष्ट देता ही है धैर्यरूपी बलपूर्वक ऐसी भावना होना मन से जीतना है। मैं थक गया हूँ, मेरी इस अतिकष्टकर और दु:सह वेदना रूप अवस्था को देखो, मैं दु:ख में जल रहा हूँ, कष्ट ने मुझे मार डाला इत्यादि दीन वचनों का उच्चारण न करना। मैंने पूर्व में अनेक बार भूख आदि परीषहों और उपसर्गों को सहा है। चिल्लाने पर भी ये छोडते नहीं है। केवल यह बेचारा धैर्य खोकर रोता है ऐसी निन्दा करते है। ये मुझे सन्मार्ग से डिगाने में समर्थ नहीं है। इस प्रकार के उदार वचन बोलना वचन से जीतना है। आँखों में और मुख पर दीनता का भाव न होना, मुख पर प्रसन्नता का रहना, विचलित न होना काय से जीतना है। इस प्रकार इन परीषहों और उपसर्गों को सम्यक् रूप से जीतने पर मरते समय तुम रत्नत्रय रूप से परिणत हो सकोगे। जिसका चित्त उपसर्ग और परीषह से व्याकुल रहता है वह आराधक नहीं हो सकता ।

संभर सुविहिय जं ते मज्झम्मि चदुव्विघस्स संघस्स।
वूढा महापदिण्णा अहयं आराहइस्सामि।।1512

हे सुचारित्र से सम्पन्न क्षपक ! तुमने चतुर्विध संघ के मध्य में जो महत्ती प्रतिज्ञा की थी कि मैं आराधना करूँगा उसे स्मरण करो।

को णाम भडो कुलजो माणो थोलाइदूण जणमज्झे।
जुज्झे पलाइ आवडिदमेतओ चेव अरिभीदो।।1513

कौन कुलीन स्वाभिमानी शूरवीर मनुष्यों के बीच में अपनी भुजाओं को ठोक कर 'मैं युद्ध में इस प्रकार शत्रुओं को हराऊँगा' ऐसी घोषणा करके सामने आये शत्रु से ही डरकर भागना पसन्द करेगा।

थोलाइदूण पुव्वं माणी संतो परीसहादीहिं।
आवदिभित्तओ चेव को विसण्णो हवे साहू।।1514

उसी प्रकार पूर्व में भूजाओं को ठोककर कौन स्वाभिमानी साधु परीषह आदि के सन्मुख आते ही खेद-खिन्न होगा।

आवडिया पडिकूला पुरओ चेव क्कमंति रणभूमिं।
अवि य मरिज्ज रणे ते ण य पसरमरीण बड्ढंति।।1515

जिन सुभटों के शत्रु उनके सन्मुख आते है वे सुभट शत्रुओं के आने से पूर्व ही युद्ध भूमि में पहुँच जाते हैं। वे युद्ध में मर जाये भले ही किन्तु शत्रुओं का उत्साह नहीं बढने देते ।

तह आवइपडिकूलदाए साहवो माणिणो सूरा।
अइ तिव्ववेयणाओ सहंति ण य विगडिमुवयंति।।1516

उसी प्रकार स्वाभिमान शूरवीर साधु आपत्तियों की प्रतिकूलता में अति तीव्र कष्ट भोगते हैं किन्तु विकार को प्राप्त नहीं होते अर्थात् दुर्भाग्यवश उपसर्ग परीषहों के उपस्थित होने पर रत्नत्रय की विराधना नहीं करते ।

थोलाइयस्स कुलजस्स माणिणो रणमुहे वरं मरणं।
ण य लज्जणयं काउं जावज्जीवं सुजणमज्झे।।1517

भुजा स्फालन करनेवाले कुलीन अभिमानी के लिए युद्ध में सन्मुख मरना श्रेष्ठ है किन्तु सुजनों के मध्य में जीवन पर्यन्त लज्जा उठाना श्रेष्ठ नहीं है।

समणस्स माणिणो संजदस्स णिहणगमणं पि होइ वरं।
ण य लज्जणयं कादुं कायरदादीणकिविणत्तं।।1518

उसी प्रकार स्वाभिमानी संयमी श्रमण का मर जाना श्रेष्ठ है किन्तु लज्जा जनक कार्य करना श्रेष्ठ नहीं है, कातरता-विपत्तियों से घबराना, दीनता कृपणता-कि मैं कुछ भी नहीं कर सकता आदि श्रेष्ठ नहीं है।

एयस्स अप्पणो को जीविदहेदुं करिज्ज जंपणयं।
पुत्तपउत्तादीणं रणे पलादो सुजणलंछं।।1519

एक अपने जीवन के लिये युद्ध भूमि से भाग कर कौन अपने पुत्र-पौत्र आदि के लिये अपवाद का कारण बनेगा और अपने-परिवार को लांछन लगाायेगा।

तह अप्पणो कुलस्यं य संघस्स य मा हु जीवदत्थी तं।
कुणसु जणे जंपणस किविणं कुव्वं सुगणलंछं।।1520

उसी प्रकार हे क्षपक ! अपने जीवन के लिये परीषह आदि आने पर अपनी निर्बलता का परिचय देते हुए अपने कुल और संघ को लोकापवाद का पात्र मत बनाओ और अपने गण पर लांछन मत लगाओ।

गाढप्पहारसंताविदा वि सूरा रणे अरिसमक्खं।

ण मुहं मंजंति सयं मरंति भिउडीमुहा चेव।।1521

युद्ध में शूरवीर पुरुष जोरदार प्रहार से पीडित होने पर भी शत्रु के सामने से अपना मुख नहीं मोडते और मुख पर भी टेढी किये हुए ही मरते हैं।।

सुट्ठु वि अवइपत्ता ण कायरत्तंकरिंति सप्पुरिसा।

कत्तो पुण दीणत्तं किविणत्तं वा वि काहिंति।।1522

उसी प्रकार सत्पुरुष अत्यन्त आपत्ति आने पर भी कातर नहीं होते। तब वे दीनता या कायरता क्यों दिखायेंगे ?

केई अग्गिमदिगदा समंतओ अग्गिणा वि उज्झंता।

जलमज्झगदा व णरा अत्थंति अचेदणा चेव।।1523

कितने ही सत्पुरुष आग में प्रवेश करके सब ओर से आग से जलने पर भी जल के मध्य में प्रविष्ट हुए मनुष्य की तरह अथवा अचेतन की तरह रहते हैं।

तत्थ वि साहुक्कारं सगअंगुलिचालणेण कुव्वंति।

केई करंति धीरा उक्किट्ठिं अग्गिमज्झम्मि।।1524

तथा आग के मध्य में भी रहते हुए अपने अगुलि संचालन के द्वारा साधुकार करते हैं कि कितना अच्छा हुआ कि मेरे अशुभ कर्म क्षय हुए। कितने ही धीर वीर पुरुष आग के मध्य में रहकर अपना आनन्द प्रकट करते हैं।

जदिदा तह अण्णाणी संसारपवड्ढणाए लेस्साए।

तिव्वाए वेदणाए सुहसाउलया करिंति धिदिं।।1525

यदि संसार को बढाने वाली अशुभ लेश्या से युक्त अज्ञानी पुरुष संसारिक सुख की लालसा से तीव्र वेदना होते हुए भी धैर्य धारण करते हैं।

किं पुण जदिणा संसारसव्वदुखक्खयं करंतेण।

बहुतिव्वदुक्खरसजाणएण ण घिदी हवदि कुज्जा।।1526

तो जो क्षपक साधु संसार के सब दु:खों का क्षय करना चाहता है और चारों गतियों के तीव्र दुखों का स्वाद जानता है वह धैर्य धारण क्यों न करेगा ?

असिवे दुब्भिक्खे वा कंतारे भएव आगाढे।

रोगहिं व अभिभूदा कुलजा माणं ण विजहंति।।1527

भारी रोग में, दुर्भिक्ष में, भयानक वन में, अत्यन्त प्रगाढ भय में तथा रोगों से ग्रस्त भी कुलीन पुरुष स्वाभिमान को नहीं छोडते।

ण पियंति सुरं ण य खंति गोयमं ण य पलंडुमादियं।

ण य कुव्वंति विकम्मं तहेव अण्णंवि लज्जणयं।।1528

वे मदिरा पान नहीं करते, गोमांस नहीं खाते, लहसुन प्याज आदि नहीं खाते, दुसरे का जूठा खाना आदि बुरे काम नहीं करते, इसी प्रकार अन्य भी लज्जास्पद काम नहीं करते।

किंपुण कुलगणसंघस्स जसमाणिणो लोयपूजिदा साधू।
माणं पि जहिय काहंति विकम्मं सुजणलज्जणयं।।1529

तब कुल गण और संघ के यश सम्पादन का अंहकार करने वाले लोकपूजित साधु स्वाभिमान त्याग कर साधुजन के लिये लज्जा के योग्य बुरा कर्म करेंगे क्या ? कभी नहीं करेंगे।

जो गच्छिज्ज विसादं महल्लमप्पं व आवदिं पत्तो।
तं पुरिसकादरं विंति धीरपुरिसा हु संढुत्ति।।1530

जो छोटी या बडी विपत्ति आने पर खिन्न होता है उस कायर पुरुष को धीर पुरुष नपुंसक कहते हैं।

मेरुव्व णिप्पकंपा अक्खोभा सागरूव्व गंभीरा।
धिदिवंतो सप्पुरिसा हुंति महल्लावईए वि।।1531

सज्जन पुरुष महत्ती विपत्ति में भी सुमेरु की तरह अकम्प, सागर की तरह गम्भीर और धैर्यशील रहते हैं।

केई विमुत्तसंगा आदारोविदभरा अपडिकम्मा।
गिरिपब्भारमभिगदा बहुसावदसंकडं भीमं।।1532
धिदिधणियवद्ध कच्छा अणुत्तर विहारिणो सुदसहाया।
साहिंति उतमट्ठं सावददाढंतरगदा वि ।।1533

कितने ही साधु समस्त परिग्रह को त्यागकर, अपने आत्मा में आत्मा को आरोपित करके प्रतिकार रहित होकर में बहुत से व्याघ्र आदि हिंस्र जन्तुओं से भरे भयंकर पर्वतों के शिखरों पर जाकर दृढ धैर्य को अपनाकर, उत्कृष्ट चारित्र पूर्वक श्रुतज्ञान की सहायता से सिंहादि के मुँह में जाकर भी उत्तमार्थ रत्नत्रय की साधना करते हैं।

प्रकरण-9
निर्यापकत्व के गुण (हितोपदेशी के हानी-लाभ प्रदर्शित्व गुण)

अयोग्य भाव के कारण

खवयस्स तीरपत्तस्स वि गुरुगा होंति रागदोसा हु।

तम्हा छुहादिएहिं य खवयस्स विसोतिया होई।।461भ. आ.

यद्यपि क्षपक संसार समुद्र के किनारे पहुँच जाता है फिर भी उसे तीव्र राग-द्वेष होते हैं। अत: भूख प्यास की परिषहों के कारण क्षपक के अशुभ परिणाम होते हैं।

अपराध स्वीकार न करने का कारण

थोलाइदूण पुव्वं तप्पडिवक्खं पुणो वि आवण्णो।

खवओ तं तह आलोचेदूं लज्जेज्ज गारविदो।।462

क्षपक पूर्व में प्रतिज्ञा करता है कि दीक्षा लेने के दिन से समाधि धारण करने के दिन तक रत्नत्रय में जो दोष लगे है उन सबको मैं गुरु के सामने निवेदन करुँगा। ऐसी प्रतिज्ञा करके भी जब अपराध निवेदन का समय आता है तो अपना बडप्पन जानकर क्षपक उस अपराध को जिस प्रकार वह किया गया उसी प्रकार से कहने में लज्जा करता है।

अपराध परिशोधन न करने के दोष

तो सो हीलणभीरु पूयाकामो ठवेणइत्तो य।

णिज्जुहणभीरु वि य खवओ वि ण दोसमालावे।।463

पश्चात् वह क्षपक डरता है कि मेरे अपराध को जान कर ये सब मेरी अवज्ञा करेंगे। उसकी अभिलाषा अपनी पूजा कराने की है कि मेरी वंदना करे, मेरे लिए उठकर खडे होवें किंतु अपराध ज्ञात होने पर तो पूजा नहीं करेंगे। वह अपने को सम्यक् आचार में स्थापित करना चाहता है। किन्तु अपराधी जानकर यह मुझे त्याग देंगे, इससे डरता भी है। अत: अपने अपराध और शरीर को त्याग ने के लिए तत्पर होते हुए भी वह गुरु से अपने दोषों को नहीं कहता।

आयोपाय विदर्शी गुण

तस्स अवायोपायविदंसी खवयस्स ओधपण्णवओ।

आलोचेतस्स अणुज्जगस्स दंसेइ गुणदोसे ।।464

उस अपने दोषों की आलोचना न करने वाले अथवा आलोचना करते हुए भी मायाचारी पूर्वक आलोचना करने वाले क्षपक को आय और उपाय को दिखलाने वाले

आचार्य आलोचना के गुण और आलोचना न करने के दोष सामान्य से बतलाते हैं कि जो अपना अपराध नहीं कहता उसको यह दोष होता है रत्नत्रय के विनाश को अपाय और रत्नत्रय के लाभ को उपाय कहते हैं। ''उप'' शब्द व्यर्थ है, ऐसा मान कर रत्नत्रय का ''आऊ'' अर्थात् शुद्धि और लाभ दोनों को दिखाने वाले आचार्य आयोपाय विदर्शी होते हैं।

मायाचारी के दोष

दुक्खेण लहइ जीवो संसारमहण्णवम्मि सामण्णं।
तं संजमं खु अबुहो णासेइ ससल्लमरणेण ।।465

इस संसार का पार पाना बडा कठिन है इसलिए चारों गति में भ्रमण रूप संसार को महासमुद्र की उपमा दी है। उसमें भ्रमण करते हुए ''श्रामण्य'' अर्थात् चारित्र को - संयम को जीव बडे कष्ट से प्राप्त करता है। अज्ञानी उस समय को सशल्य मरण से नष्ट कर देता है। यद्यपि मिथ्यात्व, माया और निदान के भेद से शल्य के अनेक भेद हैं। तथापि यहाँ प्रकरण वश मायाशल्य लिया है। मायाशल्य सहित मरण से अज्ञानी संयम को नष्ट करता है।

शंका :-यहाँ तो ''सामण्ण'' शब्द से समानता ली गई है। उसे छोडकर ''संयम क्यों कहा ?

समाधान :- इसका अभिप्राय यह है कि द्रव्य में प्रवृत्ति न करने में निमित्त जो श्रामण्य है वही संयम है। लोग कहते ही हैं कि यह पाप कार्यों में प्रवृति करता है अत: श्रमण नहीं है। अत: आत्मा में स्थित भाव शल्य दोषकारी है यह कहना उचित ही है।

अपराध मनवृत्ति से संक्लेश एवं भय

जह णाम दव्वसल्ले अणुद्धदे वेदणुदिदो होदि।
तह भिक्खु वि ससल्लो तिव्वदुहट्टो भयोव्विग्गो ।।466

जैसे शरीर में लगे बाण, काँटा आदि द्रव्य शल्य को न निकालने पर मनुष्य कष्ट से पीडित होता है। उसी प्रकार भाव शल्य से युक्त भिक्षु भी तीव्र दुखित होता है और भय से विचल होता है कि शल्य को दूर न करने पर मैं किस गति में जाऊँगा। इस प्रकार दृष्टान्त से अविरोध दिखलाया है।

कटंकसल्लेण जहा वेधाणी चम्मखीलणाणी य।
रप्फइयजालगत्तागदो य पादो पडदि पच्छा ।।467

जैसे पैर में घुसने पर पहले पैर छिद्र होता है फिर उसमें मांस का अंकुर उग आता है और वह नाडी तक पहुँचता है। पीछे उस पैर में साँप की बाँबी जैसे दुर्गन्ध युक्त छिद्र हो जाते है।

एवं तु भावसल्लं लज्जागाखभएहिं पडिबद्धं।
अप्पं पि अणुद्धरियं वदसीलगुणे वि णासेइ।।468

इसी प्रकार लज्जा भय और गारव से प्रतिबद्ध थोडा सा भी भावशल्य यदि दूर न किया जाये तो व्रत शील और गुणों को नष्ट करता है। लज्जा वश साधु अपने अपराध को छिपाता है। या अपराध प्रकट करने पर गुरुजन क्रुद्ध होंगे, मुझे त्याग देंगे अथवा बडा प्रायश्चित्त देंगे इस भय से दोषों को छिपाता है। अथवा मेरी जो महत्ती प्रसिद्धि है कि यह तपस्वी उत्तम संयमी है वह नष्ट हो जायेगी इस भय से दोषों को छिपाता है। यह माया शल्य है। इसे यदि दूर नहीं किया गया तो क्षपक के व्रत शील गुण नष्ट हो जाते हैं।

तो भट्टबोधिलाभो अणंतकालं भवण्णए भीमे।
जम्मणमरणावत्ते जोणिसहस्साउले भमदि।।469

पीछे दीक्षा धारण करके जो बुद्धिलाभ किया था वह नष्ट हो जाता है और चौरासी हजार योनियों से भरे, और जन्म-मरण रूपी भवँरों से युक्त भंयकर भव समुद्र में अनन्त काल तक भ्रमण करता है।

तत्थ य कालमणंतं धोरमहावेद-णासु जोणीसुं।
पच्चंतो पच्चंतो दुक्खसहस्साइ पप्पेदि।।470

और उस भव समुद्र में भंयकर महावेदना वाली योनीयों में भ्रमण करता हुआ अनन्त काल तक हजारों दु:ख भोगता है।

तं न खमं खु पमादा मुहुत्तमवि अत्थिदुं ससल्लेण।
आयरियपादमूले उद्धरिदव्वं हवदि सल्लं ।।471

इसलिये संसार से भीत यति को प्रमाद वश एक मुहूर्त मात्र के लिए भी शल्य सहित रत्नत्रय के साथ रहना उचित नहीं है। उक्त गुण वाले आचार्य के पादमूल में उसे अपने शल्य को निकाल देना चाहिए।

तम्हा जिणवयणरुई जाइजरामरणदुक्खवित्तत्था।
अज्जव मदवसं पण्णा भयलज्जाउ पमोत्तूण।।472

अत: जिनागम के श्रद्धालु और जन्म, जरा, मुत्यु के दु:ख से भीत क्षपक को भय और लज्जा को छोड आर्जव और मार्दव से युक्त होना चाहिए।

उप्पाडित्ता धीरो मूलमसेसं पुणब्भवलयए।
संवेगजणियकरणा तरंति भवसायरमणंतं।।473

धीर क्षपक पुनर्जन्म रूपी लता के मूल सम्पूर्ण शल्य को उखाड कर संसार के भय से उत्पन्न किये चारित्र को धारणकरके अनन्त भव सागर को तिर जाते हैं।

इय जइ दोसे य गुणे ण आलोयणाए दंसेइ।

णियत्तइ सो तत्तो खवओ ण गुणे परिणमइ।।474

इस प्रकार यदि गुरु क्षपक को आलोचना अर्थात् अपने अपराध को कहने के गुण और दोष न बतलावे तो वह क्षपक पूर्वोक्त माया शल्य दोष से निवृत न हो और नि:शल्य नामक गुण से युक्त न हो।

आलोचणगुणदोसे कोई सम्मंपि पण्णविज्जंतो।

तिव्वेहिं गारवादिहिं सम्मं बालोचए खवए।।476

कोई क्षपक आलोचना के गुण और दोषों को अच्छी तरह समझने पर भी तीव्र,गारव, आदि के कारण सम्यक् रूप से अपने दोषों को नहीं कहता। यहाँ आदि पद से लज्जा, भय और कष्ट को सहन न करना लिए गए है।

हितोपदेशी के मधुर/स्नेहील गुण

णिद्ध मधुरं हिदयंगमं च पल्हादणिज्जमेगंते।

तो पल्हावेदव्वो खवओ सो पण्णवंतेण।।477

जो अपना अपराध नहीं कहता उस क्षपक को समझाने वाले आचार्य को एकान्त में स्नेह से भरे, कानों को सुनकर और हृदय में प्रवेश करने वाले सुखदायक वचनों से शिक्षा देना चाहिए। प्राप्त सन्मार्ग रत्नत्रय के निरतिचार पालन में सावधान आयुष्मन् लज्जा, भय और मान छोडकर दोषों को निवेदन करो। गुरुजन माता-पिता के समान होते हैं उनसे कहने में लज्जा कैसी? वे अपने दोष की तरह दूसरे यतियों के भी दोष किसी से नहीं कहते। जो यति धर्म पर मिथ्या दोषारोपण को नष्ट करने में तत्पर रहते हैं वे क्या अपयश फैला सकते हैं ? मोक्ष मार्ग में प्रधान सम्यग्दर्शन है और यतिजन में दूषण लगाना सम्यग्दर्शन का अतिचार है। रत्नत्रयरूपी कमलों का वन यदि अतिचार रूपी हिमपात से नष्ट हो तो वह शोभित नहीं होता। पर निन्दा से नीचगोत्र कर्म का आश्रव होता है। जो दूसरों की निंदा करता है वह स्वयं अनेक जन्मो में निन्दा का पात्र बनता है। दूसरे के मन को असह्य संताप देने वाले के असाता वेदनीय कर्म का बंध होता है। साधुजन भी निन्दा करते है कि अपने धर्मपुत्र को यह इस प्रकार अपयश रूप कीचड से क्यों लिप्त करता है। इस तरह दूसरों के दोषों को प्रकट करना अनेक अनर्थों का मूल है। कौन समझदार उसे करना पसंद करेगा ?

हितोपदेशी के कटुक/कठोरगुण

णिद्धं मदुरं हिदयंगमं च पल्हादणिज्जमेगंते।

कोई त्तु पण्णविज्जंतओ वि णालोचए सम्मं।।478

स्निग्ध, मधुर, हृदयग्राही और सुखकर वचनों के द्वारा एकान्त में समझाने पर भी कोई क्षपक अपने दोषों को सम्यक् रूप से नहीं कहता।

तो उप्पीलेदव्वा खवयस्सोप्पीलएण दोसा से ।
वामेइ मंसमुदरमवि गदं सीहो जह सियालं ।।479

तब जैसे सिंह स्यार के पेट में गये मांस को भी उगलवाता है वैसे ही अवपीडक आचार्य उस क्षपक के अंतर में छिपे हुए माया-शल्य दोषों को बाहर निकालता है।

हमारे सामने से दूर हो जाओं ! आपको हमसे अब क्या प्रयोजन है ? जो अपने शरीर में लगे मल को धोना चाहता है वह काँच के समान निर्मल जल वाले सरोवर के पास जाता है। अर्थात् जो महान् रोग रूपी सर्प से डँसा गया है और उसे दूर करना चाहता है वह वैद्य के पास जाता है। इसी प्रकार जो रत्नत्रय में लगे अतिचारों को दूर करना चाहता है उसे गुरुजन के पास जाना चाहिए। आपको अपने रत्नत्रय की शुद्धि करने में आदर नहीं है तब इस क्षपक का रूप धारण करने से क्या लाभ ? यह सल्लेखना केवल चार प्रकार के आहार का त्याग करने मात्र से नहीं होती। किन्तु इसके लिए कषायों को कृश करना चाहिए। तभी यह सल्लेखना होती है। तथा संवर निर्जरा भी करना चाहिए। कषाय तो नवीन कर्मों का ग्रहण बंध और उनके स्थिति बंध को करती है अत: वह त्यागने योग्य है।

उन कषायों में माया अत्यन्त खराब है। वह तिर्यंच गति में ले जाती है। आप उसे छोडने में असर्मथ है अत: आप संसार समुद्र के तिर्यंच भव रूपी भवँर में फँस गये है। वहाँ से निकलना अत्यन्त कठीन है। वस्त्र मात्र के त्याग से अपने को निर्ग्रन्थ मानने का अभिमान करना भी झुठा है। यदि कोई इतने से ही निर्ग्रन्थ हो तो पशु भी निर्ग्रन्थ कहे जायेंगे। चौदह प्रकार की अभ्यन्तर परिग्रह के त्याग से भावनैर्ग्रन्थ्य होता है। वही मुक्ति का उपाय है। भावनैर्ग्रन्थ्या का उपाय है दस प्रकार की बाह्य परिग्रह का त्याग। वह मुमुक्ष के लिए उपयोगी है।जीव और पुद्गल द्रव्य के सम्बन्ध मात्र कर्मबन्ध नहीं होता किन्तु उसके निमित्त से होने वाले जीव के परिणामों के निमित्त से कर्मबन्ध होता है। अतिचार सहित सम्यग्दर्शन आदि मुक्ति के उपाय नहीं है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान्, और सम्यग्चारित्र मोक्ष का मार्ग है। क्या यह जिनागम का वचन आपके कानों में नहीं गया ? निरतिचार होना ही दर्शन, ज्ञान और चारित्र की समीचीनता है और वह निरतिचार गुरु के द्वारा कहे प्रायश्चित्त को करने पर ही होती है। गुरु भी उसी को प्रायश्चित्त देते है जो आलोचना करता है। अत: आप या तो दूर भव्य है या अभव्य है। यदि निकट भव्य होते तो इस प्रकार का महा-मायारूप शल्य क्यों होता ? तुम यतिजनों के द्वारा वंदना करने योग्य नहीं हो। क्योंकि आगम में कहा है-

बुद्धिमान को संयमी और सम्यक् रूप से समाहित श्रमण की वंदना करनी चाहिए। जीवन मरण में, लाभ अलाभ में, निन्दा प्रशंसा में जिसका चित्त समान रहता है

वही श्रमण या समण होता है। दोष कहने पर मेरी निन्दा करेंगे, प्रशंसा नहीं करेंगे इसलिए आप आलोचना नहीं करते तब आप कैसे (समण) समान है और कैसे वंदनीय है। इस प्रकार कहकर अवपीडक आचार्य उसके मुख से दोष उगलवाते हैं।

उज्जस्सी तेजस्सी वच्चस्सी पहिदकित्तियायरिओ।
सीहाणुओ य भणिओ जिणेहिं उप्पीलगो णाम।।480

जो ओजस्वी, बलवान, तेजस्वी- प्रतापवान, वर्चस्वी-प्रश्नों का उत्तर देने में कुशल प्रसिद्ध कीर्तिशाली और सिंह के समान आचार्य होते हैं उन्हें जिन भगवान् ने उत्पीडक नाम से कहा है।

पिल्लेदूण रडतं पि जहा बालस्स मुहं विदारित्ता।
पज्जेइ घदं माया तस्सेब हिदं विचिंती।।481

जैसे बालक के हित की चिन्ता में तत्पर माता चिल्लाते हुए भी बालक को पकडकर उसका मुहं फाडकर घी पीलाती है।

तह आयरिओ वि अणुज्जयस्स खवयस्स दोसवीहरणं।
कुणदि हिदं से पच्छा होहिदि कडु ओसहं वत्ति।।482

उसी प्रकार आचार्य भी कुटिल क्षपक के माया शल्यरूप दोषों को निकालते है। और वह कडवी औषधी की तरह पीछे उस क्षपक के लिए हितकारी होता है।

जिब्भाए वि लिहंतो ण भद्दओ जत्थ सारणा णात्थि।
पाएण वि ताडिंतो स भद्दओ जत्थ सारणा अत्थि।।483

जो गुरु शिष्य के दोषों का निवारण नहीं करता वह जिव्हा से मधुर बोलने पर भी भद्र नहीं है। और जो गुरु दोषों का निवारण करता हुआ पैर से मारता भी है वह भद्र है।

दोषों का निवारण करने वाली आचार्य की भद्रता एवं दुर्लभता

सुलहा लोए आदट्ठचिंतगा परहिदम्मि मुक्कधुरा।
आदटठं व परट्ठं चिंतगा दुल्लहा लोए।।484

अपने काम में तत्पर किन्तु दूसरों का हित करने में आलसी मनुष्य लोक में बहुत हैं। किन्तु अपने कार्य की तरह दूसरों के कार्य की चिंता करने वाले मनुष्य लोक में दुर्लभ हैं।

आदटठमेव चिंतेदुमुट्ठिदा जे परटठमवि लोगे।
कडुय फसेहिं साहेति ते हु अदिदुल्लहा लोए।।485

जो अपने ही कार्य की चिंता में तत्पर होते हुए दूसरों के कार्य को भी कठोर और कटुवचनों से साधते हैं वे पुरुष लोक में अत्यन्त दुर्लभ है।

आचार्य द्वारा किये जाने वाले उपकारक

खवयस्स जइ ण दोसे उग्गालेई सुहमे व इदरे वा।
ण णियत्तइ सो तत्तो खवओ ण गुणे य परिणमइ।।486

आचार्य यदि क्षपक को पीडित न करे तो वह माया शल्य से न निकले। और माया शल्य से निकले बिना निरतिचार रत्नत्रय गुण में प्रवृत न हो। इस प्रकार आचार्य के द्वारा किये जाने वाले उपकारक प्रकट करते हैं- यदि आचार्य क्षपक के सूक्ष्म अथवा स्थूल दोषों को न उगलवाये तो वह क्षपक उन सूक्ष्म अथवा स्थूल दोषों से निवृत न हो और न गुण में प्रवृत्त होने लगे और दोषों को दूर किये बिना तथा गुण में लगे बिना आराधक कैसे हो सकता है? आराधना के लिए गुरु के पास आकर भी यदि गुरु अवपीडक न हो तो उक्त बात नहीं बन सकती है।

तम्हा गणिणा उप्पीलणेण खवयस्स सव्वदोसाहु।
ते उग्गालदेव्वा तस्सेव हिंदं तया चेव।।487

इसीलिए उत्पीडक आचार्य को क्षपक के सब दोष उगलवाना चाहिए। क्योंकि क्षपक का हित इसी में है।

हितोपदेशी के दूसरों को दोष न कहने का गुण

लोहेण पीदमुदयं व जस्स आलोचिदा अदीचारा।
ण परिस्सवंति अण्णत्तो सो अप्परिस्सवो होदि।।488

जैसे तपाये हुए लोहे के द्वारा पिया गया जल बहार नहीं जाता वैसे ही जिस आचार्य से कहे गये दोष अन्य मुनियों पर प्रकट नहीं होते, वह आचार्य अपरिश्राव गुण से युक्त होता है।

दंसणणाणादिचारे वदादिचारे तवादिचारे य।
देसच्चाए विविधे सव्वच्चाए य आवण्णो।।489

किसी के सम्यग्दर्शन में अतिचार लगा हो, अथवा ज्ञान में अतिचार लगा हो, या व्रतों में अतिचार लगा हो,या तप में अतिचार लगा हो, यह एक देश से अथवा सर्व देश से अतिचार लगा हो तो।

सम्यग्दर्शन के अतिचार :- शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टी की प्रशंसा और संस्तव। **ज्ञान के अतिचार है-** असमय में स्वाध्याय श्रुत अथवा श्रुत के धारी की विनय न करना, अनुयोग आदि को ग्रहण करने में उसके योग्य अवग्रह न करना, गुरु का नाम छिपाना, व्यंजन शब्द छोड जाना या अधिक जो उसमें नहीं हैं बोलना और अर्थ का अन्यथा कथन करना । **तप अनशन आदि के अतिचार है-** स्वयं भोजन न करते हुए भी दूसरों को भोजन कराना, मन वचन काय से दूसरों को भोजन की अनुमति देना,

स्वयं भूख से पीडित होने पर मन से आहार की अभिलाषा करना, मुझे पारणा कौन करायेगा, अथवा कहाँ पारणा होगी, इत्यादि चिंता अनशन तप के अतिचार है। अथवा रसीले आहार के बिना मेरी थकान दूर नहीं होती, प्रचूर निंद्रा में पडकर छहकाय के जीवों की बाधा में मन या वचन या काय से प्रवृत्ति होना। मैंने यह संक्लेश कारी उपवास व्यर्थ ही किया यह संतापकारी है इसे नहीं करुँगा इस प्रकार का संकल्प भी अनशन का अतिचार है।

अवमौदर्यतप केअतिचार- मन से बहुत भोजन में आदर, दूसरों को बहुत भोजन कराने की चिंता, जब तक आपकी तृप्ति हो तब तक भोजन करो ऐसा कहना, मैंने बहुत भोजन किया ऐसा कहने पर आपने अच्छा किया ऐसा कहना, हाथ के संकेत से कंठ देश को स्पर्श करके बतलाना कि मैंने आकण्ठ भोजन किया ।

वृतिपरिसंख्यान तप के अतिचार :- सात घर में प्रवेश करुँगा, या एक ही मोहल्ला में जाऊँगा, वा द्ररिद्र के घर ही जाऊँगा। इस प्रकार का दाता पुरुष या दात्री स्त्री के द्वारा दिया गया आहार ग्रहण करुँगा। ऐसा संकल्प करके दूसरे को भोजन कराना है, इस भाव से सात घर से अधिक घरों में प्रवेश करना और एक मोहल्ल से दूसरे मोहल्लों में जाना।

रसपरित्यागतप के अतिचार :- रसों में अति आसक्ति, दूसरे को रसयुक्त आहार का भोजन कराना, अथवा रसयुक्त आहार के भोजन की अनुमति। ये अतिचार है।

कायक्लेशतप के अतिचार :-गर्मी से पीडित होने पर शीतल द्रव्य की प्राप्ति की इच्छा होना, मेरा संताप कैसे दूर हो यह चिंता होना, पूर्व में भोगे हुए शीतल द्रव्यों और शीतल प्रदेशों को याद करना, कठोर धूप से द्वेष करना, शीतल प्रदेश से अपने शरीर को पीछे से शोधे बिना धूप में या गर्मस्थान में प्रवेश करना अथवा धूप से सन्तप्त शरीर को पीछे से शोधे बिना छाया में प्रवेश करना आदि।

वृक्ष के मूल में जाकर हाथ, पैर अथवा शरीर से जलकायिक जीवों को पीडा देना शरीर में लगे जल के कणों को हाथ वगैरह से पौछना हाथ या पैर से शिलातल आदि पर पडे जल को दूर करना, कोमल गीली भूमि पर सोना, जल के बहने के नीचले प्रदेश में ठहरना, निश्चित स्थान पर रहते हुए कब वर्षा होगी ऐसी चिंता करना अथवा वर्षा होने पर कब रुकेगी, ऐसी चिंता करना, वर्षा से बचने के लिए छाता आदि धारण करना।

अभ्रावकाश के अतिचार :- सचित्त भूमि पर जिसमें त्रस-सहित हरितकाय हो तथा छिद्र वाली भूमि पर सोना, भूमि और शरीर को पीछे से शुद्ध किये बिना सोते हुए हाथ-पैर संकोचना फैलाना, करवट लेना अथवा शरीर खुजाना। बर्फ और वायु से पीडित होने पर 'कब ये बंद होगी' ऐसी चिंता करना, बांस के पत्ते वगैरह से शरीर पर गिरे बर्फ को

हटाना, अथवा बर्फ से घटन करना, इस प्रदेश में अधिक वायु चलती है ऐसा संक्लेश करना, अथवा शीत दूर करने के साधन आग, ओढने के वस्त्र आदि का स्मरण करना।

प्रायश्चित्त के अतिचार :- आलोचना प्रायश्चित्त के अतिचार ''आकम्पिय अणुमाणिय'' इत्यादि आगे कहे गए हैं। अपने लगे अतिचारों में मन से ग्लानी का न होना अतिचार है। अज्ञान से, प्रमाद से, कर्मों की गुरुता से, और आलस्य से मैंने यह अशुभकर्म के बन्ध में निमित्त कार्य किया यह बुरा किया यह जुगुप्सा है। उसका न होना प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त का अतिचार है। उक्त आलोचना और प्रतिक्रमण के अतिचार तदुभय प्रायश्चित के अतिचार है। भावपूर्वक विवेक का न होना विवेक प्रायश्चित्त का अतिचार है। शरीर से ममत्व न हटना, और अशुद्धि ध्यान रूप परिणति तथा कायोत्सर्ग के दोष व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त के अतिचार तप के अतिचार पहले कहे हैं। मेरी दीक्षा छेदने से मैं छोटा हो गया, यह संक्लेश छेद प्रायश्चित्त का अतिचार है। भावपूर्वक रत्नत्रय को ग्रहण न करना मूल नामक प्रायश्चित्त का अतिचार है।

अतिचार के दो प्रकार है - देशातिचार और सर्वातिचार। मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदन के भेद से देशातिचार के अनेक भेद हैं।

दोष कथक जिनधर्मी नहीं

आयरियाणं वीसत्थदाए भिक्खु कहेदि सगदोसे।
कोई पुण णिद्धम्मो अण्णेसिं कहेदि ते दोसे।।490

भिक्षु विश्वास पूर्वक अपने आचार्यों से कहता है। कोई आचार्य जो जिन भगवान् के द्वारा कहे गये धर्म से भ्रष्ट होता है वह भिक्षु के द्वारा आलोचित दोषों को दूसरों से कह देता है कि इसने यह अपराध किया है अर्थात् ऐसे करने वाला आचार्य जिनधर्म से बाह्य होता है।

दोष कथन से मिथ्यात्व की आराधना

तेवं रहस्सं भिदंतएण साधु तदो य परिचत्तो।
अप्पा गणो य संघो मिच्छत्ताराधणा चेव।।491

उस आलोचित दोष को प्रकट करने वाले आचार्य ने ऐसा करके उस साधु का ही त्याग कर दिया। क्योंकि उसने अपने चित्त में यह विचार नहीं किया मेरे द्वारा इसके दोष प्रकट कर देने पर यह लज्जीत होकर दु:खी होगा, अथवा आत्मघात कर लेगा, अथवा क्रुद्ध होकर रत्नत्रय को ही छोड देगा, तथा उस आचार्य ने अपनी आत्मा का त्याग किया, गण का त्याग किया, संघ का त्याग किया। इतना ही नहीं उसके मिथ्यात्व की आराधना दोष भी होता है।

दोष कथक साधु के संघ से बहिष्कार करने योग्य-

लज्जाए गारवेण व कोई दोसे परस्स कहिदोवि।

विपरिणामिज्ज उधावेज्ज व गच्छेज्ज वाध मिच्छतं।।492

निर्यापकाचार्य के द्वारा दूसरे से साधु के गुप्त दोष कहने पर कोई क्षपक लज्जावश या मान की गुरुतावश विपरीत परिणाम कर सकता है। यह मेरा गुरु नहीं है। यदि मैं इसे प्रिय होता तो यह मेरा दोष क्यों कहता । यह गुरु मेरे बारे में चलते-फिरते प्राण है ऐसा जो मैं सोचता था वह आज नष्ट हो गया, इस प्रकार की चिंता विपरीत परिणाम है। अथवा दोष प्रकट कर देने से कुपित होकर रत्नत्रय को छोड सकता है।

दोष कथक आत्मा के त्यागी

कोई रहस्सभेदे कदक पदोसं गदो तमारियं।

उद्दावेज्ज व गच्छं भिंदेज्ज व होज्ज पडिणीओ।।493

रहस्य भेद करने पर कोई क्षपक द्वेषी बनकर उस आचार्य को मार सकता है अथवा गण में भेद डाल सकता है कि इस स्नेह रहित आचार्य से क्या लेना देना है ? जैसे इसने मेरा अपराध प्रकट कर दिया उसी प्रकार तुम्हें भी अपराध निवेदन करने पर दोष लगा ऐसा कहकर अन्य साधुओं को विरोधी बनाकर गण में भेद डाल सकता है। अथवा विरोधी हो सकता है।

दोष कथक गण/ संघ के त्यागी

जह धरिसिदो इमो तह अम्हं पि करिज्ज धरिसणमिमोत्ति।

सव्वो वि गणो विप्परिणमेज्ज छंडेज्ज वायरियं।।494

जैसे इस आचार्य ने अमुक साधु का दोष प्रकट किया उसी प्रकार यह हमारा दोष भी प्रकट कर देगा, ऐसा सोचकर समस्त गण-गण से अलग हो सकता है अथवा आचार्य का त्याग कर सकता है।

शंका :- इस गाथा में तो कहा है कि गण आचार्य को छोड देता है और पूर्व गाथा में कहा है कि आचार्य ने गण का त्याग किया। इन दोनों कथनों की संगति नहीं बैठती?

समाधान :- अत: दोषों को प्रकट करने वाले आचार्य ने गण का त्याग किया अत: गण भी उसे छोड देता हैं।

तह चेव पवयणं सव्वमेव विप्परिणयं भवे तस्स।

तो से दिसावहारं करेज्ज णिज्जुहणं चावि।।495

जिसमें रत्नत्रय ''प्रोच्येते'' कहा जाता है वह प्रवचन है इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रवचन शब्द का अर्थ यहाँ संघ है। सभी संघ आचार्य के विरुद्ध हो सकता है और आचार्य पद को छीन सकता है अथवा उसका त्याग कर सकता है।

सगणे व परगणे वा परपरिपवादं च मा करेज्जाह।
अच्चासादणविरदा होह सदा वज्जभीरु य।।371

अपने गण में अथवा दूसरे गण में दूसरो की निंदा नहीं करनी चाहिए। तथा अति आसादना से विरत रहो और सदा पाप से डरो।

आयासवेरभयदुक्खसोयलहुगत्तणाणि य करेइ।
परणिंदा वि हु पावा दोहग्गकरी सुयणवेसा।।372

पर निंदा आयास, वैर, भय, दु:ख, शोक और लघुता को करती है, पाप रूप है, दुर्भाग्य को लाती है और सज्जनों को अप्रिय है।

किच्चा परस्स णिदं जो अप्पाणं ठवेदुमिच्छेज्ज।
सो इच्छदि आरोग्गं परम्मि कडुओसहे पीए।।373

जो पर की निन्दा करके अपने को गुणी कहलाने की इच्छा करता है वह दूसरे द्वारा के कडवी औषधी पीने पर अपनी नीरोगता चाहता है। अर्थात् जैसे दूसरे के औषधी पीने पर आप निरोग नहीं हो सकता है, वैसे ही दूसरे की निन्दा करके कोई स्वयं गुणी नहीं बन सकता।

दठ्ठूण अण्णदोसं सप्पुरिसो लज्जिओ सयं होइ।
रक्खइ य सयं दोसंव तयं जणजंपणभएण।।374

सत्पुरुष दूसरों के दोष देखकर स्वयं लज्जित होता है। लोकापवाद के भय से वह अपनी तरह दूसरों के भी दोषों को छिपाता है।

अप्पो वि वरस्स गुणो सप्पुरिसं पप्प बहुदरो होदि।
उदए व तेल्लबिंदु किह सो जंपिहिदि परदोसं।। 375

दूसरे का छोटा सा भी गुण सत्पुरुष को पाकर अति महान् हो जाता है। जैसे तेल की बूंद पानी में फैलकर महान् हो जाती है तब वह सत्पुरुष दूसरे के दोष को कैसे कह सकता है ?

एसो सव्वसमासो तह जतह जह हवेज्ज सुजणम्मि।
तुज्झं गुणेहिं जणिदा सव्वत्थ कि विस्सुदा कित्ती।।376

यह समस्त उपदेश का सार है। ऐसा यत्न करो जिससे सज्जनों में तुम्हारे गुणों से उत्पन्न हुई कीर्ति सर्वत्र फैले।

एस अखंडियसीलो बहुस्सुदो य अपरोवतावी य।
चरण गुणसुठ्ठिदोत्तिय घण्णस्स खु घोसणा भमदि।।377

यह साधु अखण्डित समाधि के धारी है, बहुश्रुत है, दूसरों को कष्ट नहीं देते, और चारित्र गुण में अच्छी तरह स्थित है। पुण्यशाली का यह यश सर्वत्र फैलता है।

बाढत्ति भणिदूणं ऐदं णो मंगलेत्ति य गणो सो।
गुरुगुणपरिणद भावो आणंदंसुं णिवाणेइ।।378

इस प्रकार गुरु का उपदेश सुनकर संघ ''हमें स्वीकार है'' ऐसा कहकर आपके ये वचन हमारे लिए अत्यन्त मंगल कारक है, ऐसा कहता है। तथा गुरु के गुणों में मन लगाकर आनन्द के आसूँ गिराता है।

भगवं अणुग्गहो मे जं तु सदेहोव्व पालिदा अम्हे।
सारणवारणपडिचोदणाआ धण्णा हु पावेंति।।379

भगवान्! आपका हम पर बडा अनुग्रह है। आपने अपने शरीर की तरह हमारा पालन किया है। तथा''यह करो'' और ''वह मत करो'' इत्यादि शिक्षा दी है। भाग्यशाली ही ऐसी शिक्षा प्राप्त करते है।

अम्हे वि खमावेमो जं अण्णाणा पमादरागेहिं।
पडिलोमिदा य आणा हिदोवंदेस करिंताण।।380

आपकी आज्ञा और हित का उपदेश करने पर हमने जो अज्ञान, प्रमाद और रागवश उसके प्रतिकूल आचरण किया, उसके लिए हम भी आपसे क्षमा माँगते हैं।

सहिदय सकण्ण याओ कदा सचक्खु य लद्धसिद्धिपहा।
तुज्झ वियोग ण पुणो णट्ठदिसाओ भविस्सामो।।381

आपने हमें हृदय युक्त अर्थात् विचार शील बनाया। हमें सपूर्ण बनाया अर्थात् आपके उपदेश सुनकर कानों का फल प्राप्त किया आपने हमें आँखे प्रदान की अर्थात् हमें शास्त्र स्वाध्याय में लगाया। तथा आपके प्रसाद से हमने मोक्ष का मार्ग प्राप्त किया। अब आपके वियोग से हम दिशाहीन हो जाएंगे। हमे कोई मार्ग दिखाने वाला नहीं रहेगा।

सव्वजयजीवहिदए थेरे सव्वजगजीवणाथम्मि।
पवसंते य मरंते देसा किर सुण्णया होंति।।382

समस्त जगत् के जीवों का हित करने वाले, ज्ञान और तप से वृद्ध तथा समस्त जगत् के जीवों के स्वामी के अन्यत्र चले जाने पर अथवा मरण को प्राप्त होने पर देश शून्य हो जाते हैं।

सव्वजयजीवहिदए थेरे सव्वजगजीवणाथम्मि।
पवसंते य मरंते होदि हु देसोधयारोव्व।।383

समस्त जगत के जीवों के हितकारी, ज्ञान और तप से वृद्ध तथा सब जगत् के जीवों के स्वामी के अन्यत्र चले जाने या मरण को प्राप्त होने पर देश में अधंकार-सा छा जाता है।

सीलड्ढगुणड्ढेहि दु बहुस्सुदेहिं अवरोवतावीहिं।।

पवसंते य मरते देसा ओखंडिया होति।।384

शील से सम्पन्न और गुणों से समृद्ध, बहुश्रुत तथा दूसरों को संताप न देने वाले महर्षियों के प्रवास जाने पर या मरण को प्राप्त होने पर सब देश उजाड सा प्रतीत होते हैं।

सव्वस्स दायगाणं समसुहदुक्खाण णिप्पकंपाणं।

दुक्खं खु विसहिदुं जे चिरप्पवासो वरगुरूणं।।385

जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप का दान करने में तत्पर रहते हैं, सुख और दु:ख में समभाव रखते हैं तथा परिषहों से विचलित नहीं होते उन महान् गुरुओं के वियोग का दु:ख सहना अति कठिन है।

दोष कथन से मिथ्यात्व की आराधना क्यों ?

जदि धरिसणमेरिसयं करेदि सिस्सस्स चेव आयरिओ।

धिद्धि अपुट्ठधम्मो समणोत्ति भणेज्ज मिच्छजणो।।396

यदि आचार्य अपने शिष्यों को ही इस प्रकार दोष प्रकट करके दूषित करते हैं तो इन अपुष्ट धर्म वाले श्रमणों को धिक्कार है ऐसा मिथ्यादृष्टि लोग कहेंगे।

इच्चेवमादिदोसा ण होंति गुरुणो रहस्सधारिस्स।

पुट्ठेव अपुट्ठे वा अपरिस्साइस्स धीरस्स।।397

जो आचार्य पूछने पर अथवा बिना पूछे शिष्य के द्वारा प्रकट किये दोषों को दूसरों से नहीं कहता वह रहस्य को गुप्त प्रकट किये दोषों को दूसरों से नही कहता वह रहस्य गुप्त रखने वाला अपरिश्रावी होता है। और उसे ऊपर कहे दोष जरा भी नहीं छुते।

प्रकरण-10
विविध समाधि मरण के फल

पंडित-पंडित मरण (मोक्ष)- शास्त्रोक्त मार्ग से प्रवृत्ति करता हुआ साधु क्षपक श्रेणी पर आरूढ होने की इच्छा से अप्रमत्त गुणस्थान में धर्मध्यान करता है। पवित्र और जन्तु रहित एकान्त प्रदेश में, उस स्थान के स्वामी की आज्ञा प्राप्त करके, समभूमिभाग में शरीर को सीधा रखते हुए पल्यंकासन बांधकर अथवा वीरासन आदि लगाकर, अथवा दोनों पैरों को समरूप से रखते हुए खडे होकर अथवा ऊपर को मुखकर शयन करते हुए या एक करवट से लेटकर पूर्व में कही विधि के अनुसार विशुद्ध लेश्यापूर्वक मोहनीय कर्म का क्षय करने में तत्पर होता हुआ ध्यान करता है तथा चतुर्दश पूर्वों का अर्थ श्रवण करने से उसकी बुद्धि निर्मल होती है अर्थात् उसके श्रुतज्ञानावरण का प्रबल क्षयोपक्षम होता है । प्रथम ही वह उस ध्यान के द्वारा अन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय करता है फिर मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतियों का क्षय करके क्षायिक सम्यदृष्टि होकर क्षपक श्रेणी के अभिमुख होने के लिए अप्रमत्त गुणस्थान में अध: प्रवृत्तकरण करता है। क्षायिक सम्यदृष्टि होकर वह क्षपक श्रेणी पर आरोहण करके प्रथम अपूर्वकरण करता है। उसे अपूर्वकरण इसलिये कहते हैं कि उसने इस प्रकार के परिणाम कभी भी नीचे के गुणस्थानों में प्राप्त नहीं किये थे। उसके पश्चात् वह साधु अनिवृत्ति करण नामक नवम गुणस्थान को प्राप्त करके निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, स्यानगृद्धि, नरकगत्यानुपूर्वी, नरकगति, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप, उद्योत, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रिय जाति, दो इन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, तिर्यग्गति, इन सोलह कर्म प्रकृतियों का क्षय करके मध्य की आठ कषाय अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध , मान, माया, लोभ का क्षय करता है। फिर क्रम से उसी नवम गुणस्थान में नपुंसक वेद, स्त्रीवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुष वेद और संज्वलन, क्रोध, मान, माया का क्षय करता है। अन्त में संज्वलन लोभ का क्षय करता है। बादर कृष्टि के पश्चात् सूक्ष्मकृष्टि रूप लोभ का वेदन करता हुआ दसवें सूक्ष्म साम्पराय नामक गुणस्थान को प्राप्त करता है और वहाँ उसी सूक्ष्मसाम्पराय नामक संयम को प्राप्त करता है। सूक्ष्म लोभ कृष्टि का क्षय होने पर साम्पराय के पश्चात् क्षीण कषाय नामक बारहवें गुणस्थानवर्ती होता है। वहाँ वह एकत्व वितर्क विचार नामक ध्यान को ध्याता है। उस ध्यान तथा यथाख्यात चारित्र के द्वारा वह जीव के अन्यथा भाव में कारण शेष घातिकर्मों का एक साथ क्षय करता है। जैसे ताड के वृक्ष की मस्तक सूची, ऊपर का शाखा भाग टुट जाने पर समस्त ताडवृक्ष ही नष्ट हो

जाता है वैसे ही समस्त मोहनीय कर्म के नष्ट होने पर कर्म नष्ट हो जाते हैं। उस क्षीणकषाय गुणस्थान के उपान्त्य समय में निद्रा, प्रचला नष्ट होती हैं और शेष घातिकर्म-पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पांच अन्तराय अन्तिम समय में नष्ट होते हैं। (भ. आ. गा.2082से2096)

छद्मस्थ अवस्था से रहित उस महामुनि के अन्तराय कर्म का विनाश होने पर अन्तराय रहित अनन्तवीर्य होता है। अर्थात् क्षयोपक्षमिक वीर्य में तो वीर्यान्तराय का उदय होने पर विघ्न आ जाता है। किन्तु समस्त वीर्यान्तराय का क्षय होने पर प्रकट हुए अनन्त वीर्य में कोई विघ्न नहीं आता। केवल ज्ञान की प्राप्ति के अनन्तर जब तक शेष कर्मों की तथा अनुभूयमान मनुष्यायु -की समाप्त नहीं होती तब तक वह केवल ज्ञानी विहार करते हैं। क्षायिक ज्ञान और क्षायिक दर्शन से परिपूर्ण वह केवल ज्ञानी चारित्र को बढाता हुआ उत्कृष्ट कुछ कम एक पूर्वकोटि तक और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त मात्र काल तक विहार करता है। फिर अघातिकर्मों को नष्ट करने के लिए सत्य वचनयोग, अनुभयवचनयोग, सत्यमनोयोग, अनुभय मनोयोग, औदारिक काय योग, औदारिक मिश्र काययोग तथा कार्मण काययोग का निग्रह प्रारम्भ करता है। उत्कर्ष से छह मास आयु शेष रहने पर जो केवल ज्ञानी होते हैं वे अवश्य समुद्धात-जीव के प्रदेशों का शरीर से बाहर दण्ड आदि आकार रूप से निकलना-करते हैं। शेष समुद्धात-करते भी हैं और नहीं भी करते, उनके लिए भी कोई नियम नहीं है। जिनके नामकर्म, गोत्रकर्म, वेदनीयकर्म, की स्थिति आयु कर्म के समान होती है वे सयोग केवली जिन समुद्धात किये बिना शैलेशी अवस्था को प्राप्त होते हैं। किन्तु जिनकी आयु की स्थिति कम होती है और नामगोत्र और वेदनीय कर्मों की स्थिति अधिक होती है वे सयोग केवली जिन समुद्धात करके ही शैलेशी अवस्था को प्राप्त होते हैं अर्थात् अयोगकेवली होते हैं। अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहने पर चारों कर्मों की स्थिति समान करने के लिए समुद्धात करते हैं। जैसे गीला वस्त्र फैला देने पर वह शीघ्र सुख जाता है उतनी शीघ्र इकट्ठा रखा हुआ नहीं सूखता। कर्मों की भी वैसी ही दशा जानना। आत्म प्रदेशों के फैलाव से सम्बद्ध कर्मरज की स्थिति बिना भोगे घट जाती है। समुद्धात करने पर स्थितिबन्ध कारण जो स्नेहगुण है वह नष्ट हो जाता है। और स्नेहगुण के क्षीण होने पर शेष कर्मों की स्थिति घट जाती है। सयोगकेवली जिन चार समयों में दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्धात करके क्रम से चार ही समयों में उसका संकोच करता है अर्थात् प्रथम समय में दण्डाकार, दूसरे समय में कपाट आकार, तीसरे समय में प्रतर रूप और चतुर्थ समय में समस्त लोक में व्याप्त हो जाते हैं। पांचवें समय में पुन: प्रतर रूप, छठे समय में कपाटरूप, सातवें समय में दण्डाकार, आठवें समय में मूल शरीराकार आत्म प्रदेश हो जाते हैं। इस प्रकार नाम,

गोत्र, और वेदनीय कर्मों की स्थिति आयु के समान करके मुक्ति की ओर बढने वाले सयोगकेवली जिन योगों का निरोध करते हैं।

योग निरोध का क्रम- स्थूल काययोग में स्थित होकर बादर वचनयोग और बादर मनोयोग को रोकते हैं और सूक्ष्म काययोग में स्थित होकर स्थूलकाय योग को रोकते हैं। उसी प्रकार सूक्ष्मकाययोग के द्वारा सूक्ष्म मनोयोग और सूक्ष्म वचनयोग को रोककर सयोगकेवली जिन सूक्ष्म काययोग में स्थित होते हैं। सूक्ष्म लेश्या के द्वारा सूक्ष्म काययोग से वह सातावेदनीय कर्म का बन्ध करते हैं तथा सूक्ष्मक्रिय नामक तीसरे शुक्लध्यान को ध्याते हैं। उस सूक्ष्मक्रिय नामक शुक्लध्यान के द्वारा काययोग का निरोध करके वह शीलों का स्वामी होता है तथा आत्मा के प्रदेशों के निश्चल हो जाने से उन्हें कर्मबन्धन नहीं होता क्योंकि कर्मबन्ध के निमित्तों का अभाव है। उस समय अयोग केवली होकर वह मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रिय जाति, पर्याप्ति, आदेय, सुभग, यशकीर्ति, साता या असातावेदनीय, त्रस, बादर, उच्चगोत्र और मनुष्यायु इन ग्यारह कर्म प्रकृतियों के उदय का भोग करते हैं। और यदि तीर्थंकर होते हैं तो तीर्थंकर सहित बारह प्रकृतियों का अनुभव न करते हैं। उसके पश्चात् अयोग केवली परम औदारिक, तेजस और कार्माण इन तीन शरीरों के बन्धन से छूटने के लिये समुच्छिन्नक्रिय अप्रतिपाती नामक चतुर्थ शुक्लध्यान को ध्याते हैं । इनका दूसरा नाम व्युपरतक्रिया निवर्ति है। इस ध्यान का काल 'अ इ उ ऋ लृ' इन पांच मात्राओं के उच्चारण में जितना काल लगता है उतना है। इतने काल वाले उस अन्तिम ध्यान के द्वारा आयोगकेवली गुणस्थान के उपान्त्य समय में बिना उदीरणा के सब 72 कर्म प्रकृतियों को खपाते हैं उनका क्षयकर देते हैं और अन्तिम समय में तीर्थंकर केवली बारह प्रकृतियों का क्षय करते हैं तथा सामान्य केवली ग्यारह प्रकृतियों का क्षय करते हैं। उनके नाम कर्म का क्षय होने से तेजस शरीर बन्ध कर भी क्षय हो जाता है। और आयुकर्म का क्षय होने से औदारीक शरीर बन्ध का क्षय हो जाता है। इस प्रकार बन्धन से मुक्त हुआ वह जीव वेग से जाने से ऊपर को जाता है। जैसे बन्धन से मुक्त हुआ अरण्ड का बीज ऊपर को जाता है। समस्त कर्म नोकर्मरूप भार से मुक्त होने के कारण हल्का हो जाने से वह ऊपर को जाती है। जैसे मिट्टी के लेप से रहित तुम्मी जल में डूबने पर भी ऊपर ही आता है। जैसे वेग से पूर्ण व्यक्ति ठहरना चाहिए हुए भी नहीं ठहर पाता है वैसे ही ध्यान के प्रयोग से आत्मा ऊपर को जाता है। अथवा जैसे आग की लपट स्वाभाव से ही ऊपर को जाती है वैसे ही कर्मरहित स्वाधीन आत्मा का स्वाभाव ऊर्ध्वगमन है। कर्मों का क्षय होते ही वह मुक्त जीव एक समय वाली मोड रहित गति से सात राजु प्रमाण आकाश के प्रदेशों का स्पर्श न करते हुए अत्यन्त तीव्र वेग से लोक के शिखर पर विराजमान हो जाता है। इस प्रकार इसी लोक में तैजस, कार्मण

और औदारिक शरीरों को त्याग कर सब प्रकार के प्रचार से मुक्त हुआ जीव, सिद्धिक्षेत्र में जाकर अपने टंकोत्कीर्ण ज्ञायक भाव स्वभाव में स्थित होकर मुक्त हो जाता है। उस सिद्धिक्षेत्र के नीचे स्थित आठवीं पृथिवी को कहते हैं-ईषत्प्राग्भार नाम की आठवीं पृथ्वी के कुछ ऊपर एक योजन पर लोक का शिखर स्थित है जो ध्रुव, अचल और अजर है। उस पर सिद्ध जीव तिष्ठता है। (भ. आ.2100से 2127 तक) इस प्रकार वे क्षपक पण्डितपण्डितमरण से सब दुखों का अन्त करते हैं और बिना बाधा के उत्कृष्ट निर्माण को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप रूप चार प्रकार की उत्कृष्ट आराधना की आराधना करके कर्म रूपी धूली से छूटकर उसी भव से मुक्ति प्राप्त करते हैं। (2153-2154)

मध्य समाधि के फल-

आराधयित्तु धीरा मज्झिममाराहणं चदुक्खंधं।
कम्मरयविप्पमुक्का तदिएण भवेण सिज्झंति।।2155

उक्त चार भेद रूप मध्य में आराधना की आराधना करके धीर पुरुष कर्म रूपी धूली से छूटकर तीसरे भव में मुक्ति प्राप्त करते हैं।

जघन्य समाधि के फल-

आराधयित्तु धीरा जहण्णमाराहणं चदुक्खंधं।
कम्मरयविप्पमुक्का सत्तमजम्मेण सिज्झंति।।2156

उक्त चार भेद रूप जघन्य आराधना की आराधना करके धीर पुरुष कर्म रूपी धूलि से छूटकर सातवें भव में मुक्ति प्राप्त करते हैं।

बालपंडितमरण-(श्रावक के समाधि-मरण)

देसेक्कदेसविरदो सम्मादिट्ठी मरिज्ज जो जीवो।
तं होदि बालपंडिदमरणं जिणसासणे दिट्ठं।।2072

जो समस्त असंयम का त्याग करने में असमर्थ है स्थूल हिंसा, स्थूल झूठ, स्थूल चोरी, स्थूल कुशील और स्थूल परिग्रह आदि पांच पापों का त्याग करता है उसे देशविरत कहते हैं। और जो देशविरति के भी एक देश से विरत होता है अर्थात् अपनी शक्ति के अनुसार हिंसादि का त्याग करता है ऐसा सम्यक्दृष्टि एक देश विरत कहा जाता है। इस प्रकार जो समस्त या एकदेश गृहस्थ धर्म का पालन श्रावक होता है उसके मरण जिनागम में बालपंडितमरण कहा है।

आसुक्कारे मरणे अव्वोच्छिण्णाए जीविदासाए।
णादीहि वा अमुक्को पच्छिमसल्लेहणमकासी।।2077

सहसा मरण उपस्थिति होने पर, जीवन की आशा रहने पर, अथवा परिजनों

के द्वारा मुक्त न किये जाने पर अन्तिम सल्लेखना धारण न करके, अपने दोषों को आलोचना पूर्वक शल्य रहित होकर अपने घर में ही संस्तर पर स्थित होकर देशविरत श्रावक के मरण को बालपण्डित मरण कहते हैं।

आलोचिदणिस्सल्लो सघरे चेवारुहितु संथारं।
जदि मरदि देसविरदो तं वुत्तं बालपंडिदयं।।2078

विधिपूर्वक आलोचना करके, माया मिथ्यात्व और निदान शल्य से मुक्त होकर अपने घर में संस्तरपर आरूढ होकर यदि श्रावक देशविरत मरता है तो उसे बालपंडित मरण कहा है।

जो भत्तपदिण्णाए उवक्कमो वित्थरेण णिद्दिट्ठो।
सो चेव बालपंडिदमरणे णेओ जहाजोग्गो।।2079

भक्त प्रत्याख्यान जो विधि विस्तार से कही है वही सब विधि बालपंडितमरण में यथायोग्य जानना।

वेमाणिएसु कप्पोवगेसु णियमेण तस्स उववादो।
णियमा सिज्झदि उक्कस्सएण वा सत्तमम्मि भवे।।2080

वह श्रावक मरकर नियम से सौधर्मादि कल्पोपपन्न वैमानिक देवों में उत्पन्न होता है और नियम से अधिक से अधिक सात भवों में मुक्त होता है।

प्रकरण-11

क्षपक के अन्तिम संस्कार

प्रश्न- क्षपक के मृत शरीर को अग्नि-संस्कार करने का विधान क्या आगमोक्त है ?

उत्तर -आगम में क्षपक के मृत शरीर का अग्नि संस्कार करने का विधान नहीं है। भगवती आराधना में विसर्जन करने का वर्णन निम्नलिखित प्रकार से है। यथा-

क्षपक के मृत शरीर को मुनिजन दूर करें।

एवं कालगदस्स दु सरीरमतोबहिज्ज वाहिं वा।

विज्जावच्चकरा तं सयं विकिंचंति जदणाए।।1966 पृ.1774 भ. आ. पुरानी प्रति जो क्षपक लोकांतर को प्राप्त हुआ है अर्थात् मर गया है तब वैयावृत्ति करने वाले मुनि उसका शरीर जो कि नगरादि में अथवा बाहर वसतिका में पडा रहता है और उसे आगे कहे हुए प्रयत्न से ले जाते हैं, अभिप्राय यह है कि पूर्वोक्त संन्यास विधि से जो क्षपक सम्यक्त्वादिक चार आराधनाओं की निस्तरण पर्यन्त प्राप्त कर पवित्र हुआ है। वह नगरादि के बीच में अथवा बाहर जब मरण करता है तब वैयावृत्य करने वाले मुनिगण उसके शव को बडे प्रयत्न से स्वयमेव ले जाते हैं।

श्रमणों का स्थिति कल्प

समणाणं ठिदिकप्पो वासावासे तहेव उडुबंधे।

पडिलिहिदव्वा णिसीहिया सव्वसाधूहिं।।1967

चातुर्मासिक योग के प्रारम्भ काल में तथा ऋतु प्रारम्भ में जहाँ आराधक के शरीर का स्थापन किया है उस स्थान की प्रतिलेखना सर्व साधुओं को नियम से करनी चाहिए अर्थात् उस स्थान का दर्शन करना चाहिए, पिच्छी से उसको स्वच्छ करना चाहिए, ऐसा यह मुनियों का स्थित कल्प है।

निषिधीका लक्षण

एगंता सालोगा णादिविकिट्ठा ण चावि आसण्णा।

वित्थिण्णा विद्धता णिसीहिया दूरमागाढा।।1968

निषिधिका एकांत प्रदेश में अन्य जनों को दिखाई न दे ऐसे प्रदेश में हो, प्रकाश सहित होनी चाहिए, वह नगरादि कों से अतिदूर न हो, न अति समीप भी हो, वह टूटी हुई विध्वंस्त की गई ऐसी न हो वह विस्तीर्ण प्रासुक और दृढ होनी चाहिए।

प्रशस्त निषिधिका तथा दिशा-

अभिसुआ असुसिरा अधसा उज्जोवा बहुसमा य असिणिद्धा।

णिज्जंतुगा फफफफफअहरिदा अविला य तहा अणाबाधा।।1969

जा अवरदक्खिणाए व दक्खिणाए व अध व अवराए।
वसधीदो वण्णिज्जदि णिसीधिया सा पसत्थत्ति ।।1970

वह निषिधिका चीटियों से रहित, छिद्रों से रहित होनी चाहिए, घिसी हुई नहीं होना चाहिए, प्रकाश सहित हो, समान भूमि के स्थान पर हो। निर्जन्तुक बाधा रहित हो, गीली तथा इधर उधर हिलने वाली नहीं हो, वह निषिधिका क्षपक की वसतिका से नैऋत्य दिशा में, दक्षिण दिशा में अथवा पश्चिम दिशा में होनी चाहिए, ऐसी इन दिशाओं में निषिधिका की रचना करना पूर्व आचार्यों ने प्रशस्त माना है।

उत्तमदिशा से संघ को लाभ-

सव्वसमाधि पढमाए दक्खिणाए दु भत्तंगं सुलभं।
अवराए सुविहारो होदि य उवधिस्सं लाभो य ।।1971

नैऋत्य दिशा की निषिधिका का सर्व संघके समाधि के लिए कारण हो जाती है, अर्थात् इस दिशा की निषिधिका संघ का हित करने वाली होती है, दक्षिण दिशा की निषिधिका से आहार सुलभता से संघ को मिलता है, पश्चिम दिशा में निषिधिका होने से संघ का सुख विहार होता रहेगा और उनको पुस्तकादिक उपकरणों का लाभ होता रहेगा।

उक्त दिशा के अभाव में-

जदि तेसिं वाधादो दट्ठव्वा पुव्वदक्खिणा होइ।
अवरुत्तरा य पुव्वा उदीचिपुव्वुतरा कमसो ।।1972

यदि नैऋत्य, दक्षिण और पश्चिम दिशा में निषिधिका का बनवाने में कुछ बाधा उपस्थित हो तो आग्नेय दिशा में, वायव्य दिशा में, ईशान दिशा में व उत्तर दिशा में इन दिशाओं में से जिस दिशा में सुविधा हो वहाँ बनवानी चाहिए।

अयोग्य दिशा का कुफल

एदासु फलं कमसो ताणेज्ज तुमंतुमा य कलहोय।
भेदो य गिलाणं पिय चरिमा पुण कट्ठदे अण्णं ।।1973

परन्तु इन दिशाओं की निषिधिकाओं का फल इस प्रकार क्रम से समझ लेना चाहिए, पूर्व दक्षिण दिशा में संघ में स्वर्द्धा, पश्चिमोत्तर दिशा में कलह होगा, पूर्व दक्षिण दिशा में संघ में फूट पडेगी, उत्तर दिशा में व्याधि उत्पन्न होगी, ईशान दिशा में संघ से परस्पर खींचातानी होगी। पूर्वोक्त दिशा में निषिधिका करने से प्रथमत: मुनि मरण होगा। ऐसा इन दिशाओं का फल है।

क्षपक के मरण पश्चात् विधि-

जं वेलं कालगतो भिक्खू तं वेलमेव णीहरणं।
जग्गणबंधणछेदणविधि अवेलाए कादव्वा ।।1974

जिस समय भिक्षु का मरण हुआ हो उसी वेला में उसका प्रेत ले जाना चाहिए अवेला में मर जाने पर जागरण, बन्धन अथवा छेदन करना चाहिए।

जागरण करने योग्य मुनि-

बाले बुड्ढे सीसे तवस्सिभीरुगिलाणए दुहिदे।
आयरिण य विकिंचिय धीरा जग्गंति जिदणिद्दा ।।1975

बालमुनि, वृद्धमुनि, शिक्षकमुनि, तपस्वीमुनि, भययुक्त मुनि, रोगी मुनि, दुःख पीडित मुनि, और आचार्य इनको वर्ज्यकर धीर, निद्रा को जिन्होंने जीता है ऐसे मुनियों को जागरण करना चाहिए ।

मृतशरीर को बंधनादि-

गीदत्था कदकज्जा महाबलपरक्कमा महासत्ता।
बंधंति य छिदंति य करचरणंगुट्ठपदेसे ।।1976

जिन्होंने पदार्थ का सत्य रूप जाना है और क्षपक के कृत्य जिन्होंने अनेक बार किये हैं, जिनमें महाबल, पराक्रम और धैर्य है ऐसे मुनि क्षपक के हाथ और पाँव तथा अगूँठा इनका कुछ भाग बाँधते हैं अथवा छेदते हैं ।

बंधनादि न करने से दोष -

जदि वा एसण कीरेज्ज विधी तो तत्थ देवदा कोई ।
आदाय तं कलेवरमुट्ठिज्ज रमिज्ज बाधेज्ज ।।1977

यदि यह विधि न की जाएगी तो उस मृतक शरीर में क्रीडा करने का स्वभाव वाला कोई भूत अथवा पिशाच प्रवेश करेगा। उस प्रेत को लेकर वह उठेगा, भागेगा, क्रीडा करेगा। इस कार्य को देखकर बालमुनि, भीरुमुनि के मन में क्षोभ उत्पन्न होकर ये भागेंगे अथवा मरण होगा। इसलिये हाथ, पाँव, व अगूँठा बाँधना चाहिए अथवा उनके कुछ प्रदेशों का छेदन करना चाहिए।

वैयावृत्त्य के उपकरणों का कार्य-

उवसयपडिदावण्णं उवसंगहिदं तु तत्थ उवकरणं।
सागारियं च दुविहं पडिहारियमपडिहारि वा ।।1978

क्षपक की शुश्रूषा करने के लिए जिन उपकरणों का संग्रह किया गया था उनका वर्णन वसतिका सम्बंधी उपकरण में किया गया है। कुछ उपकरण गृहस्थों से लाये गये थे जैसे औषध, जलपात्र, थाली वगैहर। कुछ उपकरण त्यागने योग्य रहते हैं। और कुछ उपकरण त्यागने योग्य नहीं होते हैं। जो त्याज्य नहीं है वे गृहस्थों को वापस दिये जाते हैं। कुछ कपडा वगैरह उपकरण त्याज्य रहता है।

आर्यिकादि के मृत शरीर की विधि-

जदि विक्खादा भत्तपइण्णा अज्जाव होज्ज कालगदो।
देउल सागारित्ति व सिवियाकरणं पि तो होज्ज।।1979

यदि सर्वजनों को विदित ऐसी किसी आर्यिका ने अथवा क्षुल्लक ने सल्लेखना धारण कर मरण किया होगा तो उत्तम पालकी अथवा विमान में उसके शव को स्थापन कर ले जाना चाहिये। सन्यास स्थान का रक्षण करने वाली आर्यिका, गृहस्थ, मठपति, क्षुल्लक इनका मरण होने पर शिविका अथवा विमान में इनका शव आरोहण कर गृहस्थ ग्राम के बाहर ले जाते हैं।

शव को शिविका में स्थापन-

तेण परं संठाविय संथारगदं च तत्थं बंधित्ता।
उट्ठेंतरक्खणट्ठं गामं तत्तो सिरं किच्चा।।1980

शिविका की रचना करने के अनंतर बिछाने के साथ उस शव को बाँधकर शिविका में सुलाना चाहिए। ग्राम के सन्मुख उसका मस्तक करना चाहिए। ग्राम के सन्मुख मस्तक करने का कारण यह है कि कदाचित् वह उठेगा तो उसका मुख ग्राम की तरफ नहीं होगा। और ग्राम की तरफ पैर करके शिविका में स्थापन करने से वह उठने पर ग्राम में प्रवेश करेगा इसीलिसे ग्राम की तरफ सिर करने का विधान लिखा है।

शव यात्रा की क्रिया-

पुव्वाभोगिय मग्गेण आसु गच्छति तं समादाय।
अट्ठिदमणियत्तंता ए पिट्ठदो ते अणिब्भंता।।1981

पूर्व के देखे हुए मार्ग से वह शव शीघ्र लेकर जाना चाहिए। रास्ते में नहीं खडा होना चाहिए, न पीछे लौटकर देखना चाहिए।

शव के आगे लाने वालों की क्रिया-

कुसुमुट्ठि घेत्तूण य पुरदां एगेण होइ गंतव्वं।
अट्ठिदअणियत्तं तेण पिट्ठदो लोयणं मुच्चा।।1982

उस शव के आगे एक मनुष्य मुट्ठि में कुश-दर्भ लेकर जावे, वह पीछे न देखे, न मार्ग में ठहरे।

संस्तर का स्वरूप-

तेण कुसुमुट्ठिधाराए अव्वोच्छिण्णाए समणिपादाए।
संथाारो कादव्वो सव्वत्थ समो सगिं तत्थ।।1983

जिसने निषिधिका का स्थान पूर्व में देखा है वह मनुष्य वहाँ जाकर दर्भ मुष्ठि की समान धारा से सर्वत्र सम संस्तर करना चाहिए।

संस्तर के लिए रेखा-

जत्थण होज्ज तणाइं चुण्णेहिं वितत्थ केसरेहिं वा।

संघरिदव्वा लेहा सव्वत्थ समा अवोच्छिण्णा।।1984

यदि दर्भ तृण नहीं मिला तो प्रासुक तंडुल, मसूर की दाल इत्यादिकों के चूर्ण से कमल केशर वगैरह से मस्तक से लेकर पाँव तक समान, नहीं टूटी हुई रेखाएँ लिखनी चाहिए।

विषम संस्तर से कु शकुन-

जदि विसमो संथारो उवरि मज्झे व होज्ज हेट्ठा वा।

मरणं व गिलाणं वा गणिवसभजदीण णायव्वं ।।1985

ऊपर, मध्य में अथवा नीचे रेखाओं में यदि विषमता होगी तो वह अनिष्ट सूचक है, ऊपर की रेखायें विषम होंगी तो गणी अर्थात् आचार्य का मरण अथवा व्याधि सूचित होती है मध्य की रेखा विषम होने पर ऐलाचार्य मरण अथवा व्याधि सूचित होती है। और नीचे की रेखा विषम होने पर सामान्य यति का मरण अथवा व्याधि की सूचना मिलती है।

ग्राम की ओर शव का सिर-

जत्तोदिसाए गामो तत्तो सीसं करित्तु सोवधियं।

उट्ठेतरक्खणट्ठ वोसरिदव्वं सरीरं तं।।1986

जिस दिशा में ग्राम होगा उस दिशा में मस्तक कर पिच्छी के साथ उस शव को उस स्थान पर रखना चाहिए। ग्राम के सम्मुख मस्तक करने का अभिप्राय पूर्व में लिख चुके हैं।

निषिधिका में पिच्छी का स्थापन का कारण-

जो वि विराधिय दंसणमंते कालं करित्तु होज्ज सुरो।

सो वि विबुज्झदि दट्ठूण सदेहं सोवधिं सज्जो।।1987

जिसने सम्यग्दर्शन की विराधना से मरण कर देव पयार्य पाई है वह भी पिच्छी के साथ अपना देह पूर्व भव में मुनि था ऐसा जान सकेगा।

विभिन्न नक्षत्र में समाधि के विभिन्न फल-

णत्ता भाए रिक्खे जदि कालगदो सिवं तु सव्वेसिं ।

एको दु समे खेत्ते दिवट्टेखेत्ते मंरति दुवे ।।1988

सदभिसभरण अद्दा सादा असलेस्स जिट्ठ अवखरा ।

रोहिणविसाह पुणव्वसु त्तिउत्तरा मज्झिमा सेसा ।।1989

अल्प नक्षत्र में यदि क्षपक का मरण होगा तो वह सबको सुख दायक होगा, मध्य नक्षत्र

में मरण होने से एक मुनि का मरण होगा । महा नक्षत्र पर मरण होने से दो मुनियों का मरण होता है।

जो नक्षत्र पन्द्रर मुहूर्त के रहते हैं उनको जघन्य मुहूर्त कहते हैं। शतभिषक, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा ज्येष्ठा इन छ नक्षत्रों में से किसी एक नक्षत्र पर अथवा उसके अंश पर यदि क्षपक का मरण होगा तो सर्व संघ का क्षेम होता है। तीस मुहूर्त्त के नक्षत्रों को मध्यम नक्षत्र कहते हैं। अश्विनी, कृत्तिका,मृगशिरा, पुष्य, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा, पूर्वा, पूर्वाषाढा, श्रवण, धनिष्ठा पूर्वभाद्रापदा और रेवती इन पंद्रह नक्षत्रों अथवा उसके अंशों पर क्षपक का मरण होने से एक मुनि का मरण होता है । उत्कृष्ट पैतालीस मुहूर्त के नक्षत्रों को उत्कृष्ट नक्षत्र कहते हैं। उत्तर फाल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तराभाद्रपदा, पुनर्वसु, रोहिणी, विशाखा, छः मुहूर्त में से किसी मुहूर्त पर अथवा उसके अंश पर क्षपक का मरण होने से और दो मुनियों का मरण होता है।

गणरक्षार्थे क्रिया-

गणरक्खत्थं तह्मा तणमयपडिर्बिबयं खु कादूण।
एक्कं तु समे खेत्ते दिवड्ढेखेत्त दुवे देज्ज ।।1990

गण के रक्षण हेतु मध्यम नक्षत्र में तृण का एक प्रतिबिंब बना कर रखना चाहिए तथा उत्तम नक्षत्र पर दो तृण के प्रतिबिंब बना करके अर्पण करना चाहिए।

प्रतिबिम्ब की स्थापना

तट्ठाणसावयं चियं तिक्खुत्तो ठाविय मडयपासम्मि।
विदियवियप्पिय भिक्खू कुज्जा तह विदिय तदियाणं ।।1991

मृतक के पास प्रतिबिंब स्थापना कर उसे मुनि के स्थान में मैंने यह दूसरा अर्पण किया है यह चिरकाल यहाँ रहे अथवा तप करे ऐसा जोर से तीन बार उच्चारण करना चाहिए । एक का अर्पण करने में यह क्रम कहा है। मृतक के पास दो तृण प्रतिबिंब स्थापना करके दोनों के स्थान में मैंने ये दो अर्पण किये हैं। ये यहाँ चिरकाल रहे अथवा तप करे ऐसा जोर से तीन बार बोलना चाहिए।

तृष्णाभावे काय शब्द लेखन

असदि तणे चुण्णेहिं च केसरच्छारिट्ठियादि चुण्णेहिं।
कादव्वोथ ककारो उवरि हिट्ठा यकारो से ।।1992

प्रतिबिंब करने के लिए तृण नहीं होगा तो तंडुल चूर्ण, पुष्प केसर अथवा ईंटों का चूर्ण इसमें से जो कुछ प्राप्त हो उससे ऊपर ककार और उसके नीचे यकार लिखना चाहिए।अर्थात् 'काय' ऐसा शब्द लिखना चाहिए। संघ शान्ति के लिए ऐसा कार्य करना (क्षपक की स्थापना करने के पूर्व में प्रासुक धान्य चूर्णादि से 'क' लिखकर उसके

ऊपर क्षपक को स्थापन चाहिए। ककार के नीचे यकार भी लिखना चाहिए अर्हंत की पूजा वगैरह से भी शांति करते हैं ऐसा मूलाराधना में उल्लेख है।

गृहस्थों के उपकरणों को लौटाना-

उवगहिदं उवकरणं हवेज्ज जं तत्थ पाडिहरियं तु।

पडिबोधित्ता सम्मं अप्पेदव्वं तयं तेसिं।।1993

मृतक को निषिधिका के पास ले जाने के समय जो कुछ वस्त्र काष्ठादिक उपकरण गृहस्थों से याचना करके लाया गया था उसमें जो कुछ लौटा कर देने योग्य होगा वह गृहस्थों को समझाकर लौटा देना चाहिए।

कायोत्सर्ग एवं इच्छाकार-

आराधणपत्तीयं काउसग्गं करेदि तो संघो।

अधिउत्ताए इच्छागारं खवयस्स वसधीए।।1994

चार आराधनाओं की प्राप्ति हम को हो ऐसी इच्छा से संघ को एक कायोत्सर्ग करना चाहिए। क्षपक के वसतिका की जो अधिष्ठान देवता होगी उसके प्रति यहाँ संघ बैठना चाहता है ऐसी इच्छाकार करनी चाहिए।

समाधि के दिन स्वगण-परगण की चर्या

संगणत्थे कालगदे खमणमसझइयं च तद्दिवसं।

सज्झाइ परगणत्थे भयणिज्जं खमणकरणंपि।।1995

अपने गण का मुनि मरण को प्राप्त होने पर उपवास करना चाहिए। उस दिन स्वाध्याय नहीं करना चाहिये। परगण के मुनि की मृत्यु होने पर स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। उपवास करना विकल्प है। अर्थात् उपवास करे अथवा न करे।

निषिधिका में तीसरे दिन की क्रिया-

एवं पडिट्ठवित्ता पुणो वि तदिय दिवसे उवेक्खंति।

संघस्स सुहविहारं तस्स गदी चेव णादुंजे।।1996

उपर्युक्त क्रम से क्षपक के शरीर की स्थापना कर पुन: तीसरे दिन वहाँ जाकर देखते हैं। अर्थात् संघ का सुख से विहार होगा या नही और उसकी कौन सी गति हुई है इसका परिज्ञान करने के लिए तीसरे दिन फिर वहाँ मुनि जाते हैं।

मृत शरीर से शुभ शकुन

जदिदिवसे संचिट्ठहि तमणालद्धं च अक्खंदं मडयं।

तदिवरिसाणि सुभिक्खं खेमसिवं तम्हि रज्जम्मि।।1997

जितने दिन तक वृकादिक पशुपक्षियों के द्वारा क्षपक शरीर स्पर्शित नहीं होगा और अक्षत रहेगा उतने वर्ष तक राज्य में क्षेम रहेगा ऐसा समझना चाहिए।

शव से दिशा का शुभ शकुन-

जं वा जिसमुवणीदं सरीरयं खगचदुप्पदगणेहिं।
खेमं सिवं सुभिक्खं विहरिज्जजोतं दिसं संघो।।1998

पक्षी अथवा चतुष्पद प्राणी जिस दिशा में उस क्षपक का शरीर ले गये होंगे उस दिशा में संघ विहार करे उस दिशा की तरफ क्षेमादि समझना चाहिए।

शव से क्षपक की गति का ज्ञान

जदि तस्स उत्तमंगं दिस्सदि दंता च उवरिगिरिसिहरे।
कम्ममलविप्पमुक्को सिद्धिं पत्तोत्ति णादव्वो।।1999

क्षपक का मस्तक अथवा दंतपंक्ति पर्वत के शिखर पर दिखाई पडे तो यह क्षपक कर्म मल से अलग होकर मुक्त हो गया है ऐसा समझना चाहिए। जयनंदि की टिप्पणी के अनुसार सिद्धि का अर्थ सर्वार्थसिद्धि है।

वेमाणिओ थल गदो सममि्म जो दिसि य वाणविंतरओ।
गड्ढाए भवणवासी एस गदी से समासेण।।2000

क्षपक का मस्तक उच्च स्थल में दिखाई देता है तो वह वैमानिक हुआ है ऐसा समझना चाहिए। समभूमि में यदि दिखेगा तो ज्योतिष्क अथवा व्यंतर हुआ है ऐसा समझना चाहिए। गड्ढे में यदि दिखेगा तो भवनवासी हुआ है ऐसा मानना चाहिए। इस प्रकार क्षपक की गति का संक्षेप में वर्णन किया है।

उपर्युक्त सविस्तार विधिपरक आगम प्रमाण से सिद्ध हो जाता है कि क्षपक का अन्तिम संस्कार अग्नि से नहीं किया जाता है। इतना ही नहीं, मृत शरीर को अन्य मुनि जन ही स्वयं ले जाकर निषिधिका की भूमि में विसर्जन करते हैं। अतिंम संस्कार की प्राय: सब क्रियायें मुनिजनों के द्वारा होने के कारण वे अग्नि जलनादि क्रियायें भी कैसे कर सकते हैं ? यदि शव को जला दिया जाता है तब गा. न. 1996से 2000 तक जो शकुन सम्बन्धी वर्णन है वह कैसे घटित हो सकता है क्या जला हुआ शरीर तीन-दिन तक अक्षत रह सकता है? उस भस्मीभूत शरीर को क्या पशु ले जा सकते हैं ? क्षपक का मस्तक या दंतपंक्ति पर्वत के शिखक्र पर क्या दिखाई पड सकती है ? यदि तर्क दिया जाये कि शरीर को आग के ऊपर रखने के बाद भी साबुत रह गया तब लकडी आदि इकट्ठा करने की क्या आवश्यकता थी? अग्नि जलाने की क्या आवश्यकता थी ? यह सब आरंभ, समारंभ, कृत, कारित, अनुमोदित करने के बाद भी यदि शरीर जैसा तैसा साबुत रह गया तो बिना यह आरंभादि किये शव को साबुत ही छोड देना अति उत्तम होता है। वर्तमान काल में केवल अग्नि-संस्कार से ही कार्य सम्पन्न नहीं होता है क्षपक ने तो धर्म के लिए शरीर तक त्याग कर दिया परन्तु दूसरे लोग तो उस शरीर से धन कमाने के लिए बोली कराते हैं। उस बोली की जुगाड के लिये दूर-दूर सूचना दी जाती है। दूर-दूर से सेठ-साहूकार आने पर बोली का नाटक घंटों भर चलता है। बोली के निमित्त दूर-दूर से धनात्मा को बुलान में एवं धन के बल पर (बोली) धर्म के क्रय-विक्रय में कभी-

कभी घंटों या एकाध दिन की देरी हो जाती है। तब तक मृतशरीर में कितने एकेन्द्रिय से लेकर समूर्च्छन पंचेन्द्रिय तक जीव जन्म लेते हैं, यह तो सर्वज्ञ भगवान् ही साक्षात् देख सकते हैं। हम तो आगम के आधार पर ही जान सकते हैं कि अन्तमुहूर्त के बाद समूर्च्छन जीव पैदा होना प्रारम्भ हो जाते हैं। पहले तो एकेन्द्रिय समूर्च्छन जीव उत्पन्न होंगे फिर समय बढने से दो, तीन, चार, पाँच इन्द्रिय सम्बन्धी समूर्च्छन जीव उत्पन्न होंगे। शायद उस शरीर में संख्यात, असंख्यात से लेकर अनन्त जीव उत्पन्न हो जायेंगे। इतना ही नहीं यदि शीघ्र (अन्तमुहूर्त के मध्य में भी उस शव को जलाया जायेगा तो उसमे भी जो अनन्त त्रस-स्थावर जीव हैं उनका घात होगा। गृहस्थ के शव संस्कार में भी देरी होने से गृहस्थ प्रायश्चित का भागी होता है। यथा-

तिथिवारर्क्षयोगेषु दुष्टेषु मरणं यदि।
मृतस्यैथापनं चैव दीर्घकालादभूद्यदि ।।150 त्रैर्वार्णकाचार
तद्दोषपरिहारार्थं कर्ता कृत्वा प्रदक्षिणम्।
प्रांजलिः प्रार्थ्य गृण्हीयात्प्रायश्चितं विपश्चितः ।।151
यथाशक्ति जिनेज्या च महायन्त्रस्य पूजनम्।
शान्तिहोमयुतो जाप्यो महामत्रस्य तस्य वै।।152
आहारस्य प्रदानं च धार्मिकाणां शतस्य वा ।
तदर्धस्याथवा पंचविंशते प्रतिधीयते।।153
तीर्थस्थानानि वन्द्यानि नव वा सप्त पंच वा ।
दुष्टतिथ्यादिमरणे प्रायश्चित्तमिदं भवेत्।।154

दुष्ट तिथि, वार, नक्षत्र, और योग में यदि किसी का मरण हो जाये और मृतक पुरुष को मरण के बाद बहुत देर से जलाने के लिए ले जाये तो उस दोष के परिहार के लिए कर्त्ता हाथ जोड प्रदक्षिणा देकर विद्वानों से प्रार्थना करे और प्रायश्चित करे, यथा शक्ति जिनभगवान् की पूजा करे, महा मंत्र की पूजा करे, शान्ति विधान एवं होम करे, महामंत्र का जाप करे सौ पचास किंवा पच्चीस धर्मात्माओं को आहार दान दे। नौ सात या पाँच तीर्थों की वंदना करें । यह दुष्ट तिथि आदि में मरने का प्रायश्चित्त है। ऐसी परिस्थिति में वर्तमान में जो क्षपक के शरीर की अग्नि-संस्कार क्रिया होती है, उससे करने वालों को कितना बडा प्रायश्चित्त लेना पडेगा। यह विचारणीय है। जो साधु को जीवितावस्था में पानी तक नहीं पिलाने वाले भी कुछ लोग नाम कमाने के लिए बढकर बोली लेंगे। साधु अवस्था में वसतिका की व्यवसथा नहीं करने वाले उनके नाम पर स्वनाम कमाने के लिए छतरी संस्था बनायेंगे। यह क्रिया तो जिन्दा बाप से लड्डम लड्डा मरे हुए को पहुँचावे गंगा' के समान है या जिन्दा साप को मारना तथा साप की मूर्ति को दूध पिलाने के समान है। कहावत है '' घर आये नाग ना पूजे बाबरू पूजन जावे' के समान है।

gmYH$g_moYH{$AÝVApÝV_g§ñH$modoYH$moMÌ

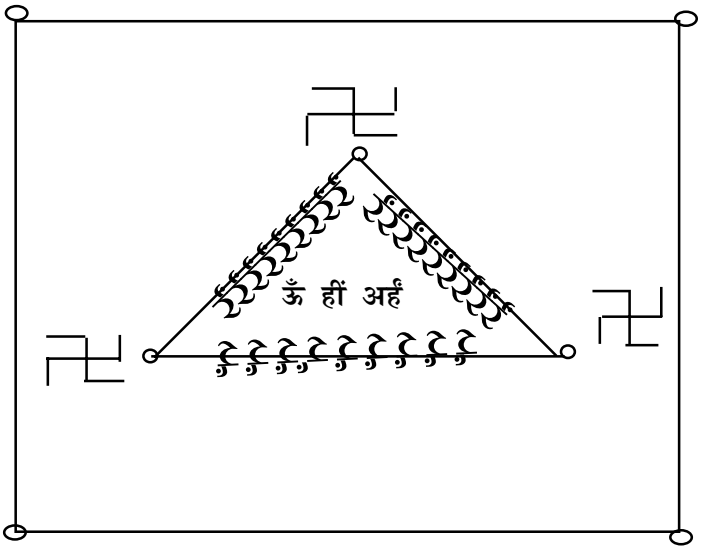

जमीन समतल करें- ऊंची-नीची नहीं हो। कम से कम 13X13 फुट चौकोर जमीन हो। छिद्र न हों। 7X7 फुट पर चारों कोने में चार लकडी की खूंटियां लगाएं।बिना टुंटी सीधी रेखा से उपरोक्त चित्रानुसार चौकोर क्षेत्र बनाएं। हल्दी -कुंकु या रोली से बनाएं। खूंटी के सहारे चारों ओर पंचरंगी धागे से बांधें। चौकौर के ठीक मध्य में एक त्रिकोण बनावें। यह त्रिकोण बैठे पद्मासन शव के मस्तक के मध्यभाग से आसन तक सीधा नाप लेकर उस नाप की एक सूतली से सीधी रेखा से त्रिकोण बनावें । हल्दी-कंकुं या रोली से बनावें। त्रिकोण के तीनों कोनों पर तीन उल्टे स्वस्तिक बनावें, तीन खूंडियां गाडें और उनके सहारे पंचरंगी धागा वेष्टित करें। उसी त्रिकोण पर उपर लिखे अनुसार पांच, सात या नो 'रँ' लिखें। मध्य में 'ऊँ' हीं अर्हं' लिखें। इसी त्रिकोण के अनुसार अंतिम संस्कार के लिए क्षपक के मृत शरीर रखे। त्रिकोण में मसूर का आटा धरें।'रँ' और बीच का मंत्र कंकु से लिखें। स्वस्तिक हल्दी से बनावें ।

प्रकरण -12

गीता में वर्णित आत्मा की अमरता तथा समाधि

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपा।

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥12पृ.28

क्योंकि वास्तव में देखने पर, मैं, तू या ये राजा किसी काल में नहीं थे अथवा भविष्य में नहीं होंगे, ऐसा कुछ नहीं है।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥13

देहधारी को जैसे इस शरीर में कौमार, यौवन और जरा की प्राप्ति होती है, वैसे ही अन्य देह मिलती है। उसमें बुद्धिमान पुरुष को मोह नहीं होता।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।

आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥14

हे कौंतेय! इंन्द्रियों के स्पर्श सर्दी, गरमी, सुख और दुःख देने वाले होते हैं। वे अनित्य होते हैं, आते हैं और जाते हैं। उन्हें तू सह।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषर्षभ।

समदुःखसुखं धीरं सोऽमृत्वाय कल्पते ॥15

हे पुरुष श्रेष्ठ सुख-दुःख में सम रहने वाले जिस बुद्धिमान पुरुष को ये विषय व्याकुल नहीं करते, वह मोक्ष के योग्य बनता है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

उभयोरपि दृष्टोऽनतस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥16

असत् का अस्तित्व नहीं है और सत् का नाश नहीं हैं इन दोनों का निर्णय ज्ञानियों ने जाना है।

अविनाशि तु जद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।

विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥17

जिससे यह अखिल जगत व्याप्त है, उसे तू अविनाशी जान। इस अव्यय का नाश करने में कोई समर्थ नहीं है।

अन्तवन्त मे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।

अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥18

नित्य रहने वाले, अपरिमित अविनाशी देही की ये देहें नाशवान कही गई हैं; इसलिए, हे भारत! तू युद्ध कर।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।।19

जो इसे मारनेवाला मानता है और जो इसे मारा हुआ मानता है, वे दोनों कुछ जानते नहीं हैं। यह (आत्मा) न मारता है, न मारा जाता है।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्-नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।20

यह कभी जन्मता नहीं है, मरता नहीं है। यह था और भविष्य में नहीं होगा, ऐसा भी नहीं है। इसलिए यह अजन्मा है, नित्य है, शास्वत है, पुरातन है, शरीर का नाश होने से इसका नाश नहीं होता।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ।।21

हे पार्थ ! जो पुरुष आत्मा को अविनाशी, नित्य, अजन्मा और अव्यय मानता है, वह किसे, कैसे मरवाता है या किसे मारता है?

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृहणाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।22

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोडकर नए धारण करता है, वैसे देहधारी जीर्ण हुई देह को त्यागकर दूसरी नई देह पाता है।

नैनं छिन्दन्तिशयस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।।23

इस (आत्मा) को शस्त्र छेदते नहीं, आग जलाती नहीं, पानी भिगोता नहीं, वायु सुखाती नहीं।

अच्छद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।।24

यह डछेदा नहीं जा सकता है, जलाया नहीं जा सकता है, न भिगोया जा सकता है, न सुखाया जा सकता है। यह नित्य है, सर्वगत है, स्थिर है, अचल और सनातन है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मा देवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ।।25

फिर, यह इंन्द्रिय और मन के लिए अगम्य है, विकार रहित कहा गया है, इसलिए इसे वैसा जानकर तुझे शोक करना उचित नहीं है।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।

तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि।।26

अथवा जो तू इसे नित्य जन्मने और मरने वाला माने तो भी, हे महबाहो ! तुझे शोक करना उचित नहीं है।

जातस्य हि ध्रवो मृत्युध्रुर्वं जन्म मृतस्य च।

तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।।27

जन्मे हुए के लिए मृत्यु और मरे हुए के लिए जन्म अनिवार्य है। अत: जो अनिवार्य है, उसका शोक करना उचित नहीं है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।

अव्यक्तनिधानान्येव तत्र का परिवेदना।।28

हे भारत ! भूत मात्र की जन्म के पहले की और मृत्यु के पीछे की अवस्था देखी नहीं जा सकती, वह अव्यक्त है, बीच की ही स्थिति व्यक्ति होती है। इसमें चिंता का क्या कारण है?

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-

माश्वर्यवद्वदति तथैव चान्य:।

आश्चर्यवच्चैनमन्य: श्रृणोति

श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।।29

कोई इसे आश्चर्य समान देखता है और कोई इसे आश्चर्य- समान वर्णन करता है और कोई इसे आश्चर्य समान वर्णन कियाहुआ सुनता है, परन्तु सुनने पर भी कोई इसे जानता नहीं है।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।

तस्मात्सर्वाणि भूतानिन त्वं शोचितुमर्हसि।।30

हे भारत ! सबकी देह में विद्यमान यह देह धारी आत्मा नित्य अवध्य है, इसलिए भूत मात्र के विषय में तुझे शोक करना उचित नहीं है ।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।

स्थितधी: किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत् किम्।।54पृ. 36

हे केशव ! स्थितप्रज्ञ अथवा समाधिस्थ के क्या लक्षण होते है? स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता, बैठता और चलता है?

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।

आत्मन्येवात्मना तुष्ट: स्थित प्रज्ञस्तदोच्यते।।55

हे पार्थ ! जब मनुष्य मन में उठती हुई समस्त कामनाओं का त्याग करता है

और आत्मा द्वारा ही आत्मा में संतुष्ट रहता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरूच्यते ।।56

दुःख से जो दुःखी न हो, सुख की इच्छा न रखे और जो राग,भय और क्रोध से रहित हो वह स्थिरबुद्धि मुनि कहलाता है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।57

सर्वत्र राग रहित होकर जो पुरुष शुभ या अशुभ की प्राप्ति में न हर्षित होता है, न शोक करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।58

कछुआ जैसे सब ओर से अंग समेट लेता है वैसे जब यह पुरुष इंन्द्रियों को उनके विषय में से समेट लेता है तब उसकी बुद्धि स्थिर हुई कही जाती है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्ज रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।।59

देहधारी निराहारी रहता है तब उसके विषय मंद पड जाते हैं। परन्तु रस नहीं जाता। वह रस तो ईश्वर का साक्षात्कार होने से निवृत्त होता है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रिययाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।।60

हे कौंतेय ! चतुर पुरुष के उद्योग करते रहने पर भी इंद्रियां ऐसी प्रयत्नशील हैं कि उसके मन को भी बलात्कार से हर लेती हैं।

तानि सर्वाणि संयस्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।61

इन सब इंन्द्रियों को वश में रखकर योगी को मुझे में तन्मय हो रहना चाहिए, क्योंकि, अपनी इंन्द्रियाँ जिसके वश में है उसकी बुद्धि स्थिर है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।62

विषयों का चिंतन करने वाले पुरुष को उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्ति में से कामना होती है और कामना में से क्रोध उत्पन्न होता है।

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।63

क्रोध में से मूढता उत्पन्न होती है, मूढता से स्मृति भ्रांत हो जाती है, स्मृति भ्रान्त होने से ज्ञान का नाश हो जाता है और जिसका ज्ञान नष्ट हो गया वह मृतक तुल्य है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।।64

परन्तु जिसका मन अपने अधिकार में है और जिसकी इन्द्रियां राग-द्वेष रहित होकर उसके वश में रहती हैं, वह मनुष्य इन्द्रियों का व्यापार चलाते हुए भी चित्त की प्रसन्नता प्राप्त करता है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।।65

चित्त की प्रसन्नता से उसके सब दुःख दूर हो जाते हैं और प्रसन्नता प्राप्त हो जाने वाले की बुद्धि तुरंत ही स्थिर हो जाती है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ।।66

जिसे समत्व नहीं, उसे विवेक नहीं, उसे भक्ति नहीं और जिसे भक्ति नहीं उसे शांति नहीं है और जहाँ शांति नहीं, वहाँ सुख कहाँ से हो सकता है?

इन्द्रियया णां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।।67

विषयों में भटकने वाली इंन्द्रियों के पीछे जिसका मन दौडता है उसका मन वायु जैसे नौका को जल से खींच ले जाता है वैसे ही उसकी बुद्धि को जहाँ चाहे खीचे ले जाता है

तस्माद्यस्य महाबाहोनिगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।68

इसलिए, हे महाबाहो ! जिसकी इंन्द्रियां चारों ओर के विषयों से निकलकर उसके वश में आ जाती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है।

या निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निसा पश्यतो मुनेः ।।69

जब सब प्राणी सोते रहते हैं तब संयमी जागता रहता है। जब लोग जागते रहते हैं तब ज्ञानवान मुनि सोता रहता है।

आदि शंकराचार्य की दृष्टि से आत्मा की अमरता तथा समाधि-

ततो विकारा प्रकृतेरहंमुखा
देहावसाना विषयाश्च सर्वे।

क्षणेऽन्यथाभावितया ह्यमीषा-
मसात्त्वमात्मा तु कदापि नान्यथा।।351 विवेक चू. पृ.115

इसलिये अहंकार से लेकर देहतक प्रकृति के जितने विकार अथवा विषय हैं वे सभी क्षण-क्षण में बदले वाले होने से असत्य हैं, आत्मा तो कभी नहीं बदलता, वह तो सदा ही एकरस रहता है।

नित्याद्वयाखण्डचिदेकरूपो
बुद्ध्यादिसाक्षी सदसद्विलक्षण:।
अहंपदप्रयत्यलक्षितार्थ:
प्रत्यक्सदानन्दघन: परात्मा।।352

जो 'अहं' पद की प्रतीति से लक्षित होता है वह नित्य आनन्दघन परमात्मा तो सदा ही अद्वितीय, अखण्ड, चैतन्यस्वरूप, बुद्धि आदि का साक्षी, सत्-असत् से भिन्न और प्रत्यक् (अन्तरतम) है।

इत्थं विपश्चित्सदसद्विभज्य
निश्चित्य तत्त्वं निजबोधदृष्ट।
ज्ञात्वा स्वमात्मानमखण्डबोधं
तेभ्यो विमुक्त:स्वयमेव शाम्यति।।353

विद्वान् पुरुष इस प्रकार सत् और असत् का विभाग करके अपनी ज्ञान-दृष्टि से तत्त्व का निश्चय करके और अखण्ड बोध-स्वरूप आत्मा को जानकर असत्पदार्थों से मुक्त हाकर स्वयं ही शान्त हो जाता है।

अज्ञानहृदय ग्रन्थेर्नि:शेषविलयस्तदा।
समाधिनाविकल्पेन यदाद्वैतात्मदर्शनम्।।354

अज्ञान रूप हृदय की ग्रन्थि का सर्वथा नाश तो तभी होता है जब निर्विकल्प समाधि द्वारा अद्वेत आत्मस्वरूप का साक्षात्कार कर लिया जाता है।

त्वमहमिदमितीयं कल्पना बुद्धिदोषात्।
प्रभवति परमात्मन्यद्वये निर्विशेषे।
प्रविलसति समाधावस्य सर्वो विकल्पो
बिलयनमुपगच्छेद्वस्तुतत्त्वावधृत्या।।355

अद्वितीय और निर्विशेष परमात्मा में बुद्धि के दोष से 'तू, मैं, यह'- ऐसी कल्पना होती है और वही सम्पूर्ण विकल्प समाधि में विघ्नरूप से स्फुरित होता है; किन्तु तत्त्व-वस्तु का यथावत् ग्रहण होने से वह सब लीन हो जाता है।

शान्तो दान्तः परमुपरतः क्षान्तियुक्तः समाधिं
कुर्वन्नित्यं कलयति यतिः स्वस्य सर्वात्मभावम्।
तेनाविद्यातिमिरजनितान्साधु दग्ध्वा विकल्पान्
ब्रह्माकृत्या निवसति सुखं निष्क्रियो निर्विकल्पः ।।356

योगी पुरुष चित्त की शान्ति, इन्द्रियनिग्रह, विषयों से उपरति और क्षमा से युक्त होकर समाधि का निरन्तर अभ्यास करता हुआ अपने सर्वात्मभाव का अनुभव करता है और उसके द्वारा अविद्या रूप अन्धकार से उत्पन्न हुए समस्त विकल्पों का भलीभाँति ध्वंस करके निष्क्रिय और निर्विकल्प होकर आनन्दपूर्वक ब्रह्माकार -वृत्तिसे रहता है।

समाहिता ये प्रविलाप्य बाह्यं श्रोत्रादि चेतः स्वमहं चिदात्मनि ।
त एव मुक्ता भवपाशबन्धै-र्नान्ये तु पारोक्ष्यकथामिधायिनः ।।357

जो लोग श्रोत्रादि इन्द्रियवर्ग तथा चित और अहंकार इन बाह्य वस्तुओंको आत्मा में लीन करके समाधि में स्थित होते हैं वे ही संसार बन्धन से मुक्त हैं,जो केवल परोक्ष ब्रह्मज्ञान की बातें बनाते रहते हैं वे कभी मुक्त नहीं हो सकते ।

उपाधिभेदात्स्वयमेव भिद्यते चोपाध्यपोहे स्वयमेव केवलः।
तस्मादुपाधेर्विलयाय विद्वा- वसेत्सदाकल्पसमाधिनिष्ठया।। 358

उपाधिके भेद से ही आत्मा में भेद की प्रतीति होती है और उपाधि का लय हो जानेपर वह केवल स्वयं ही रह जाता है, इसलिये उपाधि का लय करने के लिये विचारवान् पुरूष सदा निर्विकल्प-समाधि में स्थित होकर रहे।

अतीव सूक्ष्मं परमात्मतत्त्वं
न स्थूलदृष्टया प्रतिपत्तुमर्हति।
समाधिनात्यन्तसुसूक्ष्मवृत्त्या
ज्ञातव्यमार्यैरतिशुद्धबुद्धिभिः ।।361

परमात्म- तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्लम है, उसे स्थूल दृष्टि से कोई भी प्राप्त नहीं कर सकता, इसलिये अति शुद्धबुद्धि वाले सत्पुरुषों को उसे समाधि द्वारा अति सूक्ष्मवृत्ति से जानना चाहिये।

यथा सुवर्णं पुटपाकशोधितं त्यक्त्वा मलं स्वात्मगुणं समृच्छति ।
तथा मनः सत्त्वरजस्तमोमलं ध्यानेन सन्त्यज्य समेति तत्त्वम् ।।362

जिस प्रकार (अग्नि में)पुटपाक-विधि से शोधा हुआ सोना सम्पूर्ण मल को त्याग कर अपने स्वाभाविक स्वारूप को प्राप्त कर लेना है उसी प्रकार मन ध्यान के द्धारा सत्व-रज-तमरूप मलको त्याग कर आत्मतत्व को प्राप्त कर लेता है।

निरन्तराभ्यासवशात्तदित्थं पक्वं मनो ब्रह्माणि लीयते यदा।

तदा समाधिः स विकल्पवर्जितः स्वतोऽद्वयानन्दरसानुभावकः॥ 363

जिस समय रात-दिन के निरन्तर अभ्यास से परिपक्व होकर मन ब्रह्म में लीन हो जाता है उस समय अद्वितीय ब्रह्मानन्द रस का अनुभव कराने वाली वह निर्विकल्प समाधि स्वयं ही सिद्ध हो जाती है।

समाधिनानेन समस्तवासना- ग्रन्थेर्विनाशोऽखिलकर्मनाशः।

अन्तर्बहिः सर्वत एव सर्वदा स्वरूप विस्फूर्तिरयत्नतः स्यात्॥364

इस निर्विकल्प समाधि से समस्त वासना-ग्रन्थियों का नाश हो जाता है तथा वासनाओ के नाश से सम्पूर्ण कर्मों का भी नाश हो जाता है और फिर बाहर-भीतर सर्वत्र बिना प्रयत्न के ही निरन्तर स्वरूप की स्फूर्ति होने लगती है।

श्रुतेः शतगुणं विद्यान्मननं मननादपि।

निदिध्यासं लक्षगुणमनन्तं निर्विकल्पकम्॥365

वेदान्त के श्रवण मात्र से उसका मनन करना सौगुना अच्छा है और मनन से भी लाखगुना श्रेयस्कर निदिध्यासन (आत्मभावना- को अपने चित्त में स्थिर करना) है। तथा निदिध्यासन से भी अनन्तगुना निर्विकल्प-समाधि महत्त्व है। (जिससे चित्त फिर आत्मस्वरूप से कभी चलायमान ही नहीं होता।

निर्विकल्पकसमाधिना स्फुटं ब्रह्मतत्त्वमवगम्यते ध्रुवम्।

नान्यथा चलतया मनोगतेः प्रत्तयान्तरविमिश्रितं भवेत्॥366

निर्विकल्प समाधि के द्वारा निश्चय ही ब्रह्मतत्त्व का स्पष्ट ज्ञान होता है; और किसी प्रकार वैसा बोध नहीं हो सकता, क्योंकि अन्य अवस्थाओं में चित्तवृत्ति के चञ्चल रहने से उसमें अन्यान्य प्रतीतियों का भी मेल रहता है।

अतः समाधत्स्व यतेन्द्रियः सदा निरन्तरं शान्तमनाः प्रतीचि।

विध्वंसय ध्वान्तमनाद्यविद्यया कृतं सदेकत्वविलोकनेन॥367

इसलिए सदा संयतेन्द्रिय होकर शान्त मन से निरन्तर प्रत्यगात्मा ब्रह्म में चित्त स्थिर करो और सच्चिदान्नद ब्रह्म के साथ अपना ऐक्य देखते हुए अनादि अविद्या से उत्पन्न अज्ञानान्धकारका ध्वंस करो।

योगस्य प्रथमं द्वारं वाङ्निरोधोऽपरिग्रहः।

निराशा च निरीहा च नित्यमेकान्तशीलता॥368

वाणी को रोकना, द्रव्य का संग्रह न करना, लौकिक पदार्थों-की आशा छोडना,कामनाओं का त्याग करना और नित्य एकान्त में रहना-ये सब योग का पहला द्वार हैं।

एकान्तस्थितिरिन्द्रियोपरमणे हेतुर्दमश्चेतस:।
संरोधे करणं शमेन विलयं यायादहंवासना।
तेनानन्दरसानुभुतिचला ब्राही सदा योगिन-
स्तस्माच्चित्तनिरोध एव सततं कार्य: प्रयत्नान्मुने: ।।369

एकान्त में रहना इन्द्रिय-दमन का कारण है, इन्द्रिय-दमन चित्त के निरोध का कारण है और चित्त-निरोध से वासना का नाश होता है तथा वासना के नष्ट हो जाने से योगी को ब्रह्मानन्दरस का अविचल अनुभव होता है; इसलिए मुनि को सदा प्रयत्नपूर्वक चित्त का निरोध ही करना चाहिए।

वाचं नियच्छात्मनि तं नियच्छ बुद्धौ धियं यच्छ च बुद्धिसाक्षिणि।
तं चापि पूर्णात्मनि निर्विकल्पे विलाप्य शान्तिं परमां भजस्व।।370

वाणी को मन में लय करो, मन को बुद्धि में और बुद्धि को बुद्धि के साक्षी आत्मा, में तथा बुद्धि-साक्षी (कुटस्थ) को निर्विकल्प पूर्णब्रह्म में लय करके परम शान्ति का अनुभव करो।

देहप्राणेन्द्रियमनोबुद्धयादिभिरुपाधिभि:।
यैर्यैर्वृत्ते: समायोगस्तत्तद्भावोऽस्य योगिन: ।।371

देह, प्राण, इन्द्रिय, मन, और बुद्धि इन उपाधियों में से जिस-जिस के साथ योगी की चित्त-वृत्ति का संयोग होता है उसी-उसी भाव की उसको प्राप्ति होती है।

तन्निवृत्त्या मुने: सम्यक्सर्वोपरमणं सुखम्।
संदृश्यते सदानन्दरसानुभवविप्लव: ।।372

जब उस मुनि का चित्त इन सब उपाधियों से निवृत्त हो जाता है तो उसको पूर्ण उपरति का आनन्द स्पष्टतया प्रतीत होने लगता है जिससे उसके चित्त में सच्चिदानन्दरसानुभव की बाढ आने लगती है।

समाधि के लिए अन्तरंग- बहिरंग त्याग

अन्तस्त्यागो बहिस्त्यागो विरक्तस्यैव युज्यते।
त्यजत्यन्तर्बहि: सङ्गं विरक्तस्तु मुमुक्षया।।373

विरक्त पुरुष का ही आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार का त्याग करना ठीक है। वही मोक्ष की इच्छा से आन्तरिक और बाह्य संग को त्याग देता है।

बहिस्तु विषयै: सङ्गं तथान्तरहमादिभि:
विरक्त एव शक्नोति त्यक्तुं ब्रह्मणि निष्ठित: ।।374

इन्द्रियों का विषयों के साथ बाह्य संग और अहंकारादि के साथ आन्तरिक संघ- और इन दोनों का ब्रह्मनिष्ठ विरक्त पुरुष ही त्याग कर सकता है।

वैराग्यबोधौ पुरुषस्य पक्षिवत् पक्षौ विजानीहि विचक्षणत्वम्।
विमुक्तिसौधाग्रतलाधिरोहणं ताभ्यां विनानान्यतरेण सिध्यति।।375

हे विद्वान ! वैराग्य और बोध इन दोनों को पक्षी के दोनों पंखों के समान मोक्षगामी पुरुष के पंख समझो। इन दोनों में से किसी भी एक के बिना केवल एक ही पंख के द्वारा कोई मुक्तिरूपी महल की अटारी पर नही चढ सकता (अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिए वैराग्य और बोध दोनों की ही आवश्यकता है।)

अत्यन्तवैराग्यवत:समाधि: समाहितस्यैव दृढप्रबोध:।
प्रबुद्धतत्त्वस्य हि वन्धमुक्ति- र्मुक्तात्मनो नित्यसुखानुभूति: ।।376

अत्यन्त वैराग्यवान् का ही समाधि-लाभ होता है, समाधिस्थ पुरुष को ही दृढ बोध होता है तथा सुदृढ बोधवान् का ही संसार बन्धन छूटता है और जो संसार-बन्धन से छूट गया है और उसी को नित्यानन्द का अनुभव होता है।

वैराग्यान्न परं सुखस्य जनकं पश्यामि वश्यात्मन-
स्तच्चेच्छुद्धतरात्मबोधसहितं स्वाराज्यसाम्राज्यधुक्।
एतद्द्वारमजस्रमुक्तियुवतेर्यस्मात्त्वमस्मात्परं
सर्वत्रास्पृहया सदात्मनि सदा प्रज्ञां कुरु श्रेयसे।।377

जितेन्द्रिय पुरुष के लिए वैराग्य से बढकर सुख दायक मुझे और कुछ भी प्रतीत नहीं होता और वह यदि कहीं शुद्ध आत्मज्ञान के सहित हो तब तो स्वर्गीय साम्राज्य के सुख का देने वाला होता है। यह मुक्ति रूप कामिनी का निरन्तर खुला हुआ द्वार है; इसलिए हे वत्स ! तुम अपने कल्याण के लिए सब ओर से इच्छा रहित होकर सदा सच्चिदानन्द ब्रह्मा में ही अपनी बुद्धि स्थिर करो।

आशां छिन्धि विषोपमेषु विषयेष्वेषैव मृत्यो: सृति-
स्त्यक्त्वा जातिकुलाश्रमेष्वभिमतिं मुञ्चातिदूरात्क्रिया:
देहादावसति त्यजात्मधिषणां प्रज्ञां कुरुष्वात्मनि
त्वं द्रष्टास्यमलोऽसि निर्द्वयपरं ब्रह्मासि यद्वस्तुत: ।।378

विष के समान विषम विषयों की आशा को छोड दो, क्योंकि यह (स्वरूप विस्मृतिरूप) मृत्यु का मार्ग है तथा जाति कुल और आश्रम आदि का अभिमान छोडकर दूर कर्मों को नमस्कार कर दो। देह आदि असत् पदार्थों में आत्मबुद्धि को छोडो और आत्मा में अहंबुद्धि करो, क्योंकि तुम तो वास्तव में इन सब के द्रष्टा और मल तथा द्वैत से रहित जो परम ब्रह्म है वही हो।

लक्ष्ये ब्रह्मणि मानसं दृढतरं संस्थाप्य बाह्येन्द्रियं
स्वस्थाने विनिवेश्य निश्चलतनुश्चोपेक्ष्य देहस्थितिम्।

ब्रह्मात्मैक्यमुपेत्य तन्मयतया चाखण्डवृत्त्यानिशं
ब्रह्मानन्दरस पिबात्मनि मुदा शून्यैः किमन्यैर्भ्रमैः ।।379

चित्त को अपने लक्ष्य ब्रह्म में दृढता पूर्वक स्थिरकर बाह्य इन्द्रियों को (उनके विषयों से टहटाकर) अपने-अपने गोलकों में स्थिर करो, शरीर को निश्चल रखो और उसकी स्थिति की ओर ध्यान मत दो। इस प्राकर ब्रह्म और आत्मा की एकता करके तन्मयभाव से अखण्ड-वृत्ति से अहर्निश मन-ही-मन आनन्दपूर्वक ब्रह्मानन्दरस का पान करो और थोथी बातों से क्या लेना है?

अनात्मचिन्तनं त्यक्त्वा कश्मलं दुःखकारणम् ।
चिन्तमःत्मानमानन्दरूपं यन्मुक्तिकारणम् ।।380

दुःख के कारण और मोह रूप अनात्म-चिन्तन को छोडकर आनन्दस्वरूप आत्मा का चिन्तन करो, जो साक्षात् मुक्ति का कारण है।

आचार्य कनकनन्दी जी के विविध शोध पूर्ण-ग्रन्थ

(I) **आध्यात्मिक** **मुल्य**

1) अनेकान्त सिद्धान्त (द्वि.सं.) 41
2) अहिंसामृतम् 15
3)अनेकान्त के प्रकार्श में मोक्षमार्ग 21
4)अपुनरागमन पथ: मोक्षमार्ग 05
5)आदर्श नागरिक की प्रायोगिक क्रियायें 05
6)आहार दान से अभ्युदय 9
7) उपवास का धार्मिक वैज्ञानिक विश्लेषण15
8) जीवन्त धर्म सेवा धर्म 11
9) तत्त्वानुचिन्तन 5
10) दिगम्बर साधु का नग्नत्व एवं केशलोंच (हिन्दी, मराठी, गुजराती, उर्दू (11सं.) 5
11) धर्म, जैन धर्म तथा भ. महावीर 25
12) बन्धु बंधन के मूल 41
13) विनय मोक्ष द्वार 6
14)विश्व धर्म सभा (समोवशरण) 21
15) क्षमा वीरस्य भूषणम् (तृ.सं.) 25
16) श्रमण संघ संहिता 30
17) त्रैलोक्य पूज्य ब्रह्मचर्य (द्वि. सं.) 25

(II) **आध्यात्मिक-विज्ञान(गणित)**

1) अनन्त शक्ति सम्पन्न परमाणु से लेकर परमात्मा 201
2) धर्म विज्ञान बिन्दु 15
3)धर्म दर्शन विज्ञान प्रवेशिका-(पु.1)स.सं.15
4)धर्म दर्शन विज्ञान प्रवेशिका-(पु.2)ष.सं.15
5)धर्म दर्शन विज्ञान प्रवेशिका-(पु.3)ष.सं.15
6)धर्म दर्शन एवं विज्ञान (द्वि.सं.) 51
(7)ब्रह्माण्डीय जैविक-भौतिक एवं रसायन विज्ञान- 125
(8) ब्रह्माण्ड के रहस्य 25
(9) ब्रह्माण्ड एवं प्रतिब्रह्माण्ड धार्मिक वैज्ञानिक विश्लेषण- 15
(10) विश्व विज्ञान रहस्य 100
(11)विश्व प्रति विश्व एवं श्याम-विवर 25
(12) वैज्ञानिक आईन्स्टीन के सिद्धान्तों को पुन: परीक्षण की आवश्यकता- 15

(III) **आध्यात्मिक मनो-विज्ञान**

(1)अतिमानवीय शक्ति (द्वि. सं.) 21
(2) क्रान्ति के अग्रदूत (द्वि. सं.) 21
(3) कर्म का दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विश्लेशण (द्वि. सं.) 45
(4) ध्यान का वैज्ञानिक विश्लेषण (द्वि. सं.)21
(5) लेश्या मनोविज्ञान (द्वि. सं.) 11

(IV) **शिक्षा-मनोविज्ञान**

(1) आचार्य कनकनन्दी दृष्टि में शिक्षा 11
(2) नैतिक शिक्षा एवं सामान्य ज्ञान 40
(3) सर्वोदय शिक्षा मनोविज्ञान(बृहत्) 201
(4) सर्वोदयशिक्षामनोविज्ञान (छोटा) 21

(**V**)**शोध(धार्मिक,दार्शनिक, वैज्ञानिक,सामाजिक, मनोवैज्ञानिक)**

(1) अग्नि परीक्षा 11
(2) अनुभव चिन्तामणि 10
(3) ऊठो ! जागो ! प्राप्त करो (हिन्दी, कन्नड) 11
(4) करें साक्षात्कार यथार्थ सत्य का 50
(5) करें साक्षात्कार यथार्थ धर्म एवं भाव का 40
6) जैन धर्मावलम्बी संख्या और उपलब्धि 21
7) जीव विकास एवं विनाश के सूत्र 10
8) जैन धर्मावलम्बिओं की दिशा-दशा-आशा 5
9) जैन एकता एवं विश्व शान्ति 5
10) धार्मिक कुरीतियों का परिशोधन 5
11) नग्न सत्य का दिग्दर्शन 15

12) निकृष्टतम स्वार्थी तथा क्रूरतम प्राणी मनुष्य 10
13) प्रथम शोध बोध-आविष्कार एवं प्रवक्ता- 25
14) प्राचीन भारत की 72 कलायें 11
15) भ्रष्टाचार उन्मूलन 5
16) भारत को गारत एवं महान् भारत बनाने के सूत्र 5
17) भारत के सर्वोदय के उपाय 5
18) मानवीय निकृष्ट संघर्ष का इतिहास 10
19) मेरा लक्ष्य-साधना एवं अनुभव 10
20) ये कैसे धर्मात्मा, निव्यसनी-राष्ट्र सेवी 11
21) व्यसन का धार्मिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण (तृ.सं.) 30
22) विज्ञान को भी अविज्ञात सत्य 20
23) शाश्वत समस्याओं का समाधान 18
24) शिक्षा, संस्कृति एवं नारी गरीमा 16
25) संगठन के सूत्र (द्वि.सं.) 25
26) संस्कार (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड) 15 वां. सं. 10
(27) संस्कार (बृहत्) 30
(28) सत्यान्वेषी आ. कनकनन्दी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व 5
(29) संस्कृति की विकृति 10
(30) संस्कार और हम 25
(31) हिंसा की प्रति क्रिया है प्राकृतिक प्रकोपादि 25
(32) क्षमा वीरस्य भूषणम् (तृ. सं.) 21
(33) विभिन्न क्रम विकासवाद एवं परम आध्यात्मि विकासवाद 25
(34) भारत की अन्तरंग खोज 10
(35) विभिन्न भावात्मक प्रदूषण एवं भ्रष्टाचार: कारण तथा निवारण 15
(36) वर्तमान की आवश्यकता धार्मिक उदारता न कि कट्टरता 15

(VI) **अनुवाद, टीका, समीक्षा (आध्यात्मिक विज्ञान)**

(1) इष्टोपदेश (आध्यात्मिक-मनोविज्ञान) 51
(2) पुरूषार्थसिद्ध्युपाय (अहिंसा का विश्वस्वरूप) 101
(3) विश्व द्रव्य-विज्ञान (द्रव्य संग्रह) 41
(4) स्वतंत्रता के सूत्र (मोक्ष शास्त्र) द्वि. सं. 101
(5) सत्यसाम्यसुखामृतम् (प्रवचनसार) 301

(VII) **मीमांसा, समालोचना, संकलन**

(1) कौन है विश्व का कर्त्ता- हर्त्ता-धर्त्ता? 11
(2) ज्वलन्त शंकाओं का शीतल समाधान (द्वि. सं.) 41
(3) जिनार्चना पुष्प-1 (तृ.सं.) 41
(4) जिनार्चना पुष्प-2 21
(5) निमित्त उपादान मीमांसा (द्वि.सं.) 7
(6) पुण्य पाप मीमांसा (द्वि.सं.) 15
(7) पूजा से मोक्ष, पुण्य, पाप भी 21
(8) भाग्य एवं पुरूषार्थ (हिन्दी, मराठी) पं.सं. 15
(9) शोधपूर्ण ग्रन्थ तथा ग्रन्थ कर्त्ता आ.कनकनन्दी- 10

(VIII) **इतिहास**

(1) अशोध्या का पौराणिक, ऐतिहासिक एवं राजनैति विश्लेषण 11
(2) ऋषभ पुत्र भरत से भारत (द्वि. सं.) 21
(3) धर्म प्रर्वतक 24 तीर्थंकर (द्वि. सं.) 21
(4) पार्श्वनाथ का तपोपसर्ग कैवल्य धाम बिजौलिया 15

(5)भारतीय आर्य कौन कहाँ से - कब से कहाँ के ? 25
(6)युग निर्माता भ.ऋषभदेव (द्वि. सं.) 41
(7)युग निर्माता भ.ऋषभदेव (पद्यानुवाद) 5
(8)विश्व इतिहास 25

(IX)स्मारिका (वैज्ञानिक संगोष्ठी)

(1) कर्म सिद्धान्त और उसके वैज्ञानिक मनौविज्ञान एवं सामाजिक आयाम- 60
(2)शिक्षा-शोधक-स्मारिका- 100
(3)स्मारिका (स्वतंत्रता सूत्र में विज्ञान) 81
(4)स्मारिका (स्वतंत्रता के सूत्र में विज्ञान) 51
(5)जैन धर्म में विज्ञान 150
6) भारतीय संस्कृति में विश्व शान्ति और पर्यावरण सुरक्षा के सूत्र 20

(X)स्वप्न (शकुन-भविष्य विज्ञान) मंत्र सामुद्रिक शास्त्र (शरीर से भविष्य ज्ञान)

(1) भाव-भाग्य तथा अंग-विज्ञान (सर्वांग विज्ञान की वैज्ञानिक गवेषणा) 151
(2)भविष्य फल विज्ञान (द्वि.सं.) 101
(3) मंत्र-विज्ञान (द्वि.सं.)- 25
(4)शकुन-विज्ञान 30
(5) स्वप्न-विज्ञान (द्वि.सं.) 51

(XI) स्वास्थ्य विज्ञान

(1)समग्र स्वास्थ्य के उपाय: तपस्या 25
(2)आर्दश विचार-विहार-आहार 35
(3)धर्म एवं स्वास्थ्य विज्ञान (पु.1) तृ.सं. 50
(4)धर्म एवंस्वास्थ्यविज्ञान (पु.2) 21
(5) शारीरीक-मानसिक-आध्यात्मिक स्वास्थ्य के विविध आयाम 101

(XII) प्रवचन

(1)क्रान्ति दृष्टा प्रवचन 11
(2)जीने की कला 7
(3)भ. महावीर तथा उनका दिव्य संदेश 5
(4)भारत को पुन:विश्वगुरु बनाने के लिए समग्र क्रान्ति चाहिए 11
(5)मनन एवं प्रवचन 5
(6)विश्व शान्ति के अमोघ-उपाय (द्वि.सं.)10
(7)विश्व धर्म के दस लक्षण 41
(8)व्यक्ति एवं समाज निर्माण के आद्य कर्तव्य 15
(9)शान्तिक्रान्तिकेविश्वनेबननेकेउपाय 41
(10)समग्र क्रान्ति के उपाय 15
(11)सत्य धर्म 5

(XIII) कथा

(1)कथा सुमन मालिका 15
(2)कथा सौरभ 21
3) कथा पारिजात 15
4) कथा पुष्पाञ्जली 15
5) कथा चिन्तामणि 15
6) कथा त्रिवेणी 8

(XIV) अंग्रेजी साहित्य

1) Fate and efforts 15
2) Leshya Psychology 11
3) Moral Education 25
4)Nakedness of Digambar Jain Saints and Kesh Lonch 5
5) SansKaras 5
6) Sculopr the Rishabhadev 51
7) Phylosophy of Scientific religion 21
8) What kinds of Dharmatma (piousman) these are 21

(XV) डॉ. एन. एल. कछारा के साहित्य (संस्थान के सचिव)

(1) जैन कर्म सिद्धान्त: आध्यात्म और विज्ञान
(2) समवशरण (आ. कनकनन्दी से भेट वार्ता)
(3) Jain Doctrine of Karma (Dr. N-L-Kachhara) 21

(XIV) प्रकाशनार्थ तैयार

(1)अमृतत्त्व की उपलब्धि के हेतु समाधि - मरण, पृष्ट 150

(2)ब्रह्माण्ड -काल -आकाश एवं जीव: अनन्त,-पृष्ट 400

(3)विश्व के परम विचित्र प्राणी: मानव,-पृष्ट 400

(4) पंचविध एकेन्द्रिय जीव,- पृष्ट- 200

(5) विविध दीक्षा विधि,- पृष्ट- 50

(6) परोपदेश कुशल बहुतेरे, पृष्ट - 50

(XVI)आगामी प्रकाशनाधीन ग्रंथ

(1)**न्याय, राजनीति, अर्थ शास्त्र, समाजविज्ञान:** (नीति वाक्यमृतम् की विस्तृत वैज्ञानिक समीक्षात्मक टीका)

पृष्ठ संख्या लगभग 1000

(2)**भारत का दिव्य संदेश :** भारत की मूल परंपरा यथा- जैन, बौद्ध, वैदिक के श्रेष्ठ गंथों की आधुनिक समीक्षात्मक टीका सहित । समाधिशतक (जैन), उपनिषद (वैदिक), धम्मपद (बौद्ध) तीन ग्रंथों का प्रकाशन एक ही जिल्द में किया जायेगा जिससे विश्व के लोग भारत के दिव्य आध्यात्मवाद को समझे एवं भावात्मक एकता के सूत्र में बँधे। पृष्ठ लगभग 500 से 750 तक।

4)**परम्परा, धर्म एवं विज्ञान :** परम्पराओं में धर्म क्या है? अधर्म क्या है? विज्ञान क्या है? अविज्ञान क्या हैं? यह सिद्ध किया जायेगा। पृष्ठ:प्राय:100

8)**परम पर्यावरण वैज्ञानिक तीर्थंकर एवं पर्यावरण की सुरक्षा**:इस कृति में यह सिद्ध किया जायेगा कि केवल प्रदूषण वायु,जल, मृदा, शब्द ही नहीं होता है बल्कि भावात्मक प्रदूषण सर्व प्रदुषण का जनक है। विश्व के महानूतम प्रथम पर्यावरण वैज्ञानिक तीर्थंकर होते हैं।

पृष्ठ प्राय: 400 से 500

10) **कल्याणकारक** : जैन आयुर्विज्ञान-

पृष्ठ प्राय:1100 (वैज्ञानिक समीक्षा)

11)**भाव ही कल्पवृक्ष, चिंतामणि,कामधेनु :** इस कृति में यह सिद्ध किया जायेगा कि वस्तुत: चितामणि, कामधेनु,कल्पवृक्ष व्यक्ति के भाव ही है। भावों का प्रभाव शरीर ,मन, आत्मा, समाज,प्रकृति,इहलोक- परलोक में किस प्रकार पडता है इसका विस्तृत वर्णन धर्मिक, वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से पृ. 200